© प्रकाशक :
आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
पद्मिनी मार्ग, राजस्थान पत्रिका के पास
उदयपुर-(राज०) ३१३००१

संस्करण : प्रथम १९९१

मूल्य : रु० ३५-००

CAṀDĀVEJJHAYAṀ PAIṆṆAYAṀ
Hindi Translation by
Suresh Sisodiya

Edition : First 1991

Price : Rs. 35-00

मुद्रक : वर्द्धमान मुद्रणालय, जवाहरनगर, वाराणसी

प्रकाशकीय

अर्द्धमागधी जैन आगम-साहित्य भारतीय संस्कृति और साहित्य की अमूल्य निधि है। दुर्भाग्य से इन ग्रन्थों के अनुवाद उपलब्ध न होने के कारण जनसाधारण और विद्वद्वर्ग दोनों ही इनसे अपरिचित हैं। आगम ग्रन्थों में अनेक प्रकीर्णक प्राचीन और आध्यात्म प्रधान होते हुए भी अप्राप्त से रहे हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि पूज्य मुनि श्री पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित इन प्रकीर्णक ग्रन्थों के मूल पाठ का प्रकाशन श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से हो चुका है, किन्तु अनुवाद के अभाव में जनसाधारण के लिए वे ग्राह्य नहीं थे। इसी कारण जैन विद्या के विद्वानों की समन्वय समिति ने अनुदित आगम ग्रन्थों और आगमिक व्याख्याओं के अनुवाद के प्रकाशन को प्राथमिकता देने का निर्णय लिया और इसी सन्दर्भ में प्रकीर्णकों के अनुवाद का कार्य आगम संस्थान को दिया गया। संस्थान द्वारा देवेन्द्रस्तव व तन्दुलवैचारिक नामक दो प्रकीर्णक अनुवाद सहित प्रकाशित किये जा चुके हैं।

हमें प्रसन्नता है कि संस्थान के सह शोध अधिकारी श्री सुरेश सिसोदिया ने 'चन्द्रवेध्यक-प्रकीर्णक' का अनुवाद सम्पूर्ण किया। प्रस्तुत ग्रन्थ की सुविस्तृत एवं विचारपूर्ण भूमिका संस्थान के मानद् निदेशक प्रो० सागरमल जी जैन एवं श्री सुरेश सिसोदिया ने लिखकर ग्रन्थ को पूर्णता प्रदान की है, इस हेतु हम उनके कृतज्ञ हैं। हम जैन विद्या के मूर्धन्य विद्वान् पं० दलसुखभाई मालवणिया के भी विशेष आभारी हैं, जिन्होंने प्रस्तुत अनुवाद का सम्यक् पर्यावलोचन कर अपना मार्गदर्शन प्रदान किया।

हम संस्थान के मार्गदर्शक प्रो० कमलचन्द जी सोगानी, सह निदेशिका डॉ० सुषमा जी सिंघवी एवं मंत्री श्री फतहलाल जी हिंगर के भी आभारी हैं, जो संस्थान के विकास में हर सम्भव सहयोग एवं मार्गदर्शन दे रहे हैं। संस्थान के शोधाधिकारी डॉ० सुभाष कोठारी भी संस्थान की प्रकीर्णक अनुवाद योजना में संलग्न हैं अतः उनके प्रति भी आभारी हैं।

प्रकाशन की इस वेला में हम पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी के पदाधिकारियों के प्रति भी आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने

प्रस्तुत पुस्तक को परिपूर्ण करने में एवं मुद्रण के कार्यों हेतु हमें सुविधा प्रदान कर सहयोग दिया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में श्रीमान् भँवरलाल जी सा० वैद ने दस हजार रु० का अनुदान प्रदान किया है, अतः हम उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। ग्रन्थ के सुन्दर एवं सत्वर मुद्रण के लिए हम वर्द्धमान मुद्रणालय के भी आभारी हैं।

गणपतराज वोहरा
अध्यक्ष

सरदारमल कांकरिया
महामंत्री

प्रस्तुत पुस्तक के अर्थ-सहयोगी
श्री भँवरलाल जी सा० वैद

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन के लिए श्रीयुत् भँवरलाल जी सा० वैद, कलकत्ता द्वारा अर्थ सहयोग प्रदान किया गया है। आप बीकानेर संघ के पूर्व अध्यक्ष स्व० श्रीयुत् जसराज जी सा० वैद के ज्येष्ठ सुपुत्र हैं। श्री वैद सा० मूलत: बीकानेर के निवासी हैं एवं वर्तमान में आप कलकत्ता में व्यवसायरत हैं। आप तरुण टेक्सटाइल, कलकत्ता के संस्थापक-संचालक हैं।

आप एक प्रसिद्ध उद्योगपति हैं। अपने व्यवसाय में अतिव्यस्त रहते हुए भी आप समाज एवं संघहित के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। आपके दो अनुज श्री झँवरलाल जी वैद एवं श्री रिखबचन्द जी वैद हैं। तीनों भाई एवं पूरा परिवार धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत हैं।

श्रीयुत् वैद सा० अत्यन्त उदार एवं सरल स्वभावी हैं। आप सामाजिक, शैक्षणिक एवं सेवा सम्बन्धी रचनात्मक कार्यों में सदैव अग्रणी रहते हैं और तन-मन-धन से उसमें सहयोग प्रदान करते हैं।

वर्तमान में आप निम्न संघों एवं संस्थाओं में अपनी सेवाएँ प्रदान कर रहे हैं।

(१) अध्यक्ष—श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर
(२) अध्यक्ष—श्री श्वे० स्थानकवासी जैन सभा, कलकत्ता
(३) अध्यक्ष—श्री सु० शिक्षासांड सोसायटी, नौखा

आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान की प्रवृत्तियों में आपकी प्रारम्भ से ही रुचि रही है एवं उदारतापूर्वक संस्थान के कार्यों में आप अर्थसहयोग देते रहे हैं।

श्री वैद सा० का यह सहयोग उनके साहित्य एवं शोध के प्रति प्रेम का ही परिचायक है।

●

विषयानुक्रम

भूमिका

प्रत्येक धर्म परम्परा में धर्म ग्रन्थ का एक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। हिन्दुओं के लिए वेद, बौद्धों के लिए त्रिपिटक, पारसियों के लिए अवेस्ता, ईसाइयों के लिए बाइबिल और मुसलमानों के लिए कुरान का जो स्थान और महत्त्व है, वही स्थान और महत्त्व जैनों के लिए आगम साहित्य का है। यद्यपि जैन परम्परा में आगम न तो वेदों के समान अपौरुषेय माने गये हैं और न ही बाइबिल और कुरान के समान किसी पैगम्बर के माध्यम से दिया गया ईश्वर का संदेश, अपितु वे उन अर्हतों एवं ऋषियों की वाणी का संकलन हैं, जिन्होंने साधना और अपनी आध्यात्मिक विशुद्धि के द्वारा सत्य का प्रकाश पाया था। यद्यपि जैन आगम साहित्य में अंग सूत्रों के प्रवक्ता तीर्थंकरों को माना जाता है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि तीर्थंकर भी मात्र अर्थ के प्रवक्ता हैं, दूसरे शब्दों में वे चिन्तन या विचार प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें शब्द रूप देकर ग्रन्थ का निर्माण गणधर अथवा अन्य प्रबुद्ध आचार्य या स्थविर करते हैं।[1]

जैन-परम्परा हिन्दू-परम्परा के समान शब्द पर उतना बल नहीं देती है। वह शब्दों को विचार की अभिव्यक्ति का मात्र एक माध्यम मानती है। उसकी दृष्टि में शब्द नहीं, अर्थ (तात्पर्य) ही प्रधान है। शब्दों पर अधिक बल न देने के कारण ही जैन-परम्परा के आगम ग्रन्थों में यथाकाल भाषिक परिवर्तन होते रहे और वेदों के समान शब्द रूप में अक्षुण्ण नहीं बने रह सके। यही कारण है कि आगे चलकर जैन आगम-साहित्य—अर्द्धमागधी आगम-साहित्य और शौरसेनी आगम-साहित्य ऐसी दो शाखाओं में विभक्त हो गया। इनमें अर्द्धमागधी आगम-साहित्य न केवल प्राचीन है अपितु वह महावीर की मूलवाणी के निकट भी है। शौरसेनी आगम-साहित्य का विकास भी अर्द्धमागधी आगम साहित्य के प्राचीन स्तर के इन्हीं आगम ग्रन्थों के आधार पर हुआ है। अतः अर्द्धमागधी आगम-साहित्य शौरसेनी आगम-साहित्य का आधार एवं उसकी अपेक्षा प्राचीन भी है। यद्यपि यह अर्द्धमागधी आगम-साहित्य भी

---

१. 'अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा'—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ९२।

महावीर के काल से लेकर वीर निर्वाण संवत् ९८० या ९९३ की वलभी की वाचना तक लगभग एक हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में संकलित और सम्पादित होता रहा है। अतः इस अवधि में उसमें कुछ संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन भी हुआ है।

प्राचीन काल में यह अर्द्धमागधी आगम साहित्य अंग-प्रविष्ट और अंगवाह्य ऐसे दो विभागों में विभाजित किया जाता था। अंग प्रविष्ट में ग्यारह अंग आगमों और वारहवें दृष्टिवाद को समाहित किया जाता था। जवकि अंगवाह्य में इसके अतिरिक्त वे सभी आगम ग्रन्थ समाहित किये जाते थे, जो श्रुतकेवली एवं पूर्वधर स्थविरों की रचनाएँ माने जाते थे। पुनः इस अंगवाह्य आगम-साहित्य को भी नन्दीसूत्र में आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त ऐसे दो भागों में विभाजित किया गया है। आवश्यक व्यतिरिक्त के भी पुनः कालिक और उत्कालिक ऐसे दो विभाग किये गये हैं। नन्दीसूत्र का यह वर्गीकरण निम्नानुसार है—

कालिक

- उत्तराध्ययन
- दशाश्रुतस्कन्ध
- कल्प
- व्यवहार
- निशीथ
- महानिशीथ
- ऋषिभाषित
- जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
- द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
- चन्द्रप्रज्ञप्ति
- क्षुल्लिकाविमान-प्रविभक्ति
- महल्लिकाविमान-प्रविभक्ति
- अंगचूलिका
- वग्गचूलिका
- विवाहचूलिका
- अरुणोपपात
- वरुणोपपात
- गरुडोपपात
- धरणोपपात
- वैश्रमणोपपात
- वेलन्धरोपपात
- देवेन्द्रोपपात
- उत्थानश्रुत
- समुत्थानश्रुत
- नागपरिज्ञापनिका
- निरयावलिका
- कल्पिका
- कल्पावतंसिका
- पुष्पिता
- पुष्पचूलिका
- वृष्णिदशा

उत्कालिक

- दशवैकालिक
- कल्पिकाकल्पिक
- चुल्लकल्पश्रुत
- महाकल्पश्रुत
- औपपातिक
- राजप्रश्नीय
- जीवाभिगम
- प्रज्ञापना
- महाप्रज्ञापना
- प्रमादाप्रमाद
- नन्दी
- अनुयोगद्वार
- देवेन्द्रस्तव
- तन्दुलवैचारिक
- चन्द्रवेध्यक
- सूर्यप्रज्ञप्ति
- पौरुषीमंडल
- मण्डलप्रवेश
- विद्याचरण विनिश्चय
- गणिविद्या
- ध्यानविभक्ति
- मरणविभक्ति
- आत्मविशोधि
- वीतरागश्रुत
- संलेखणाश्रुत
- विहारकल्प
- चरणविधि
- आतुरप्रत्याख्यान
- महाप्रत्याख्यान

इस प्रकार हम देखते हैं कि नन्दीसूत्र में चन्द्रवेध्यक का उल्लेख अंगबाह्य, आवश्यक-व्यतिरिक्त उत्कालिक आगमों में हुआ है। पाक्षिकसूत्र में आगमों के वर्गीकरण की जो शैली अपनायी गयी है उसमें नाम और क्रम में कुछ भिन्नता है। उसमें भी चन्द्रवेध्यक को उत्कालिक आगमों में चौदहवाँ स्थान मिला है। इसके अतिरिक्त आगमों के वर्गीकरण की एक प्राचीन शैली हमें यापनीय परम्परा के शौरसेनी आगम 'मूलाचार' में भी मिलती है। मूलाचार आगमों को चार भागों में वर्गीकृत करता है[1]—(१) तीर्थंकर-कथित (२) प्रत्येकबुद्ध-

---

१. मूलाचार—भारतीय ज्ञानपीठ-गाथा २७७

कथित (३) श्रुतकेवली कथित (४) पूर्वधर-कथित। पुनः मूलाचार में इन आगमिक ग्रन्थों का कालिक और उत्कालिक के रूप में वर्गीकरण किया गया है। यद्यपि इस वर्गीकरण में चन्द्रवेध्यक का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है किन्तु इसी ग्रन्थ की गाथा ८५ में चन्द्रवेध्यक शब्द प्राप्त होता है। ग्रन्थ में प्राप्य इस शब्दोल्लेख से यद्यपि यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि यापनीय परम्परा में यह ग्रन्थ किस रूप में मान्य रहा है किन्तु मूलाचार व चन्द्रवेध्यक में चन्द्रवेध्यक के शब्दोल्लेख वाली इस गाथा की समानता यह सूचित करती है कि यापनीय परम्परा में भी इसकी मान्यता रही होगी।

वर्तमान में आगमों के अंग, उपांग, छेद, मूलसूत्र, प्रकीर्णक आदि विभाग किये जाते हैं। यह विभागीकरण हमें सर्वप्रथम विधिमार्गप्रपा (जिनप्रभ-१३वीं शताब्दी) में प्राप्त होता है।[1] सामान्यतया प्रकीर्णक का अर्थ विविध विषयों पर संकलित ग्रन्थ ही किया जाता है। नन्दीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है कि तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण प्रकीर्णकों की रचना करते थे। परम्परानुसार यह भी मान्यता है कि प्रत्येक श्रमण एक-एक प्रकीर्णक की रचना करता था। समवायांग सूत्र में "चोरासीइं पण्णग सहस्साइं पण्णत्ता" कहकर ऋषभदेव के चौरासी हजार शिष्यों के चौरासी हजार प्रकीर्णकों का उल्लेख किया है।[2] महावीर के तीर्थ में चौदह हजार साधुओं का उल्लेख प्राप्त होता है। अतः उनके तीर्थ में प्रकीर्णकों की संख्या भी चौदह हजार मानी गयी है। किन्तु आज प्रकीर्णकों की संख्या दस मानी जाती है।

ये दस प्रकीर्णक निम्न हैं[3]—

(१) चतुः शरण (२) आतुर प्रत्याख्यान (३) संस्तारक (४) चन्द्रवेध्यक (५) गच्छाचार (६) तन्दुल वैचारिक (७) देवेन्द्र स्तव (८) गणिविद्या (९) महाप्रत्याख्यान और (१०) मरण विधि

मुनि पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित पइण्णयसुत्ताइं में दस प्रकीर्णकों के नाम निम्नानुसार हैं[4]—

---

१. विधिमार्गप्रपा—पृष्ठ ५५।
२. समवायांग सूत्र—मुनि मधुकर-८४वाँ समवाय।
३. अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग १ पृष्ठ ४१।
४. पइण्णयसुत्ताइं, प्रस्तावना पृष्ठ २०।

(१) चतुःशरण (२) आतुरप्रत्याख्यान (३) भक्तपरिज्ञा (४) संस्तारक (५) तन्दुल वैचारिक (६) चन्द्रवेध्यक (७) देवेन्द्रस्तव (८) गणिविद्या (९) महाप्रत्याख्यान और (१०) वीरस्तव

आचार्य श्री प्रद्युम्नसूरीश्वर जी ने विचारसार प्रकरण में आगमों के पैंतालिस नाम गिनाए हैं, उनमें भी चन्द्रवेध्यक का नामोल्लेख है—

आयारो १ सूयगडे २.....चंदाविज्झय ३४.....देविंदसंथवणं ४५॥[1]

दस प्रकीर्णकों को श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय आगमों की श्रेणी में मानता है। परन्तु प्रकीर्णक नाम से अभिहित इन ग्रन्थों का संग्रह किया जाये तो निम्न बाईस नाम प्राप्त होते हैं—

(१) चतुःशरण (२) आतुरप्रत्याख्यान (३) भत्तपरिज्ञा (४) संस्थारक (५) तंदुलवैचारिक (६) चंद्रावेध्यक (७) देवेन्द्रस्तव (८) गणिविद्या (९) महाप्रत्याख्यान (१०) वीरस्तव (११) ऋषिभाषित (१२) अजीवकल्प (१३) गच्छाचार (१४) मरणसमाधि (१५) तित्थोगालि (१६) आराधना पताका (१७) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति (१८) ज्योतिष्करण्डक (१९) अंगविद्या (२०) सिद्धप्राभृत (२१) सारावली और (२२) जीवविभक्ति।[2]

इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक प्रकीर्णक भी उपलब्ध होते हैं। यथा—'आउर पच्चक्खान' के नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

इनमें से नन्दी और पाक्षिक के उत्कालिक सूत्रों के वर्ग में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, गणिविद्या, मरणविभक्ति, मरणसमाधि, महाप्रत्याख्यान, ये सात नाम पाये जाते हैं और कालिकसूत्रों के वर्ग में ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति ये दो नाम पाये जाते हैं। इस प्रकार नन्दी एवं पाक्षिक सूत्र में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है।[3]

यद्यपि प्रकीर्णकों की संख्या और नामों को लेकर परस्पर मतभेद देखा जाता है, किन्तु यह सुनिश्चित है कि प्रकीर्णकों के भिन्न-भिन्न सभी वर्गीकरणों में चन्द्रवेध्यक को स्थान मिला है।

यद्यपि आगमों की शृंखला में प्रकीर्णकों का स्थान द्वितीयक है, किन्तु यदि हम भाषागत प्राचीनता और आध्यात्म-प्रधान विषय-वस्तु की दृष्टि से विचार करें तो प्रकीर्णक, कुछ आगमों की अपेक्षा भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत

---

१. पइण्णयसुत्ताइं, प्रस्तावना पृष्ठ २१।

२. वही, पृष्ठ १८।

३. नन्दीसूत्र—मुनि मधुकर पृष्ठ ८०-८१।

होते हैं। प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित आदि ऐसे प्रकीर्णक हैं, जो उत्तराध्ययन और दशवैकालिक जैसे प्राचीन स्तर के आगमों की अपेक्षा भी प्राचीन हैं।[1]

चन्द्रवेध्यक-प्रकीर्णक—चन्द्रवेध्यक-प्रकीर्णक एक पद्यात्मक रचना है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख नंदी एवं पाक्षिक सूत्र में प्राप्त होता है। दोनों ही ग्रन्थों में आवश्यक-व्यतिरिक्त उत्कालिक श्रुत के अन्तर्गत चन्द्रवेध्यक का उल्लेख मिलता है।[2]

पाक्षिकसूत्र वृत्ति में चन्द्रवेध्यक का परिचय देते हुए कहा गया है कि "चंदा० चन्द्रो यन्त्रपुत्रिकाक्षिगोलको गृह्यते, आ मर्यादया विद्धयत इत्या-वेध्यम्, कप्रत्यये चन्द्रावेध्यकं राधावेध ईत्यर्थः। तदुपमाणमरणाराधणा-प्रतिपादको ग्रन्थश्चन्द्रवे०।" अर्थात् चन्द्र का तात्पर्य यन्त्र पुतलिका को आँख के गोलक से है 'आ' शब्द समग्रता का वाची है। 'वेध्य' शब्द का अर्थ विद्ध करना है तथा 'क' प्रत्यय है। इस प्रकार चन्द्रवेध्यक का तात्पर्य यन्त्र चालित पुतलिका की आँख के गोलक का सम्यक् प्रकार से भेदन करना है।[3] वस्तुतः यह लक्ष्य को प्राप्त करने की एक कला है।

नामकरण की सार्थकता—प्रकीर्णक ग्रन्थों में चन्द्रवेध्यक ही एक ऐसा प्रकीर्णक है जिसके भिन्न-भिन्न आगमों में नाम भी भिन्न-भिन्न प्राप्त होते हैं, यथा—चंदावेज्झयं, चंदगवेज्झं, चंदाविज्झयं, चंदयवेज्झं, चंदग-विज्झं और चंदगविज्झयं। इन भिन्न-भिन्न नामों के कई संस्कृत रूपा-न्तरण भी बनते हैं, जैसे—चन्द्रावेध्यक चन्द्रवेध्यक, चन्द्रकवेध्य, चन्द्रा-विध्यक, चन्द्र विद्या और चन्द्रक विध्यक।

---

१. ऋषिभाषित की प्राचीनता आदि के सम्बन्ध में देखें—
डॉ० सागरमल जैन—ऋषिभाषित : एक अध्ययन (प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर)।

२. (क) उक्कालिअं अणेगविहं पण्णत्तं तंजहा—(१) दसवेआलिअं,........(१५) चंदाविज्झयं,........(२९) महापच्चक्खाणं, एवमाइं।
(नन्दी सूत्र—मधुकर मुनि—पृष्ठ १६१-१६२)
(ख) नमो तेसिं खमासमणाणं,........अंगबाहिरं उक्कालियं भगवंतं। तंजहा-दसवेआलिअं (१) ....चंदाविज्झयं (१४)........महापच्चक्खाणं (२८)
(पाक्षिकसूत्र—देवचन्द्र-लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, पृ० ७६)

३. (क) पाक्षिक सूत्र वृत्ति-पत्र ७७
(ख) अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ३ पृष्ठ १०९७

यद्यपि यह निर्धारित कर पाना सहज नहीं है कि इस प्रकीर्णक के प्राप्त इन विविध नामों में से कौनसा नाम सही है, किन्तु यह स्पष्ट है कि इन सभी नामों में अर्थ की दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं है जो कुछ भिन्नता है, वह मात्र शाब्दिक भिन्नता ही है।

चन्द्रवेध्यक में 'विज्झयं' पाठ लेते हैं तो उसका संस्कृत रूपान्तरण चन्द्रविद्या भी बन सकता है और यदि 'वेज्झयं' पाठ लेते हैं, तो उसके संस्कृत रूपान्तरण में 'चन्द्रावेध्यक' और 'चन्द्रवेध्यक' दोनों ही रूप सिद्ध होते हैं। पाक्षिक सूत्र में भी इन दोनों ही रूपों का उल्लेख मिलता है।[1] चंदावेज्झयं की व्याख्या करते हुए 'आ' का ग्रहण करके 'आ मर्यादया विध्यक इति आवेध्यकम्' ऐसी व्याख्या की गई है। इस व्याख्या के आधार पर चन्द्र + आवेध्यकम् = चन्द्रावेध्यकम्, ऐसा रूप भी बनता है। इस प्रकार चन्द्रावेध्यक और चन्द्रवेध्यक दोनों ही रूप सिद्ध होते हैं।

चंदावेज्झयं का हिन्दी रूपान्तरण चन्द्र-विद्या करते हुए आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज ने अपने टीका-ग्रन्थ श्रीमन्नन्दीसूत्रम्[2] के "पारिभाषिक एवं विशिष्ट शब्दों पर टिप्पण" नामक प्रथम परिशिष्ट में इस ग्रन्थ को चन्द्रसंबंधी ज्ञान कराने वाला ग्रन्थ विशेष कहा है और साथ ही साथ आचार्य प्रवर ने इस ग्रन्थ को वर्तमान में अनुपलब्ध भी बताया है। वर्तमान में इस ग्रन्थ को अनुपलब्ध कहने का उनका क्या तात्पर्य रहा है, यह ज्ञात नहीं है, क्योंकि उस समय भी यह ग्रन्थ मुनि चतुरविजय जी कृत संस्कृत छाया सहित विजयक्षमाभद्रसूरि द्वारा सम्पादित होकर सन् १९४१ में केसरबाई ज्ञान मंदिर, पाटण से प्रकाशित हो चुका था। सम्भवतः इस ग्रन्थ की विषय वस्तु को चन्द्र संबंधी विद्या का नाम देने से ही उन्हें यह भ्रान्ति हो गई हो, वस्तुतः इस ग्रन्थ को विषयवस्तु चन्द्रविद्या का ज्ञान नहीं कराती है, अपितु यह तो व्यक्ति को जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति कराने वाला ग्रन्थ है।

ग्रंथ में प्रयुक्त हस्तलिखित प्रतियों का परिचय—मुनि श्री पुण्यविजय ने इस ग्रन्थ के पाठ निर्धारण में निम्न प्रतियों का उपयोग किया था—

१. सं० : संघवीपाडा जैन ज्ञान भंडार की ताड़पत्रीय प्रति।

---

१. पाक्षिकसूत्र वृत्ति पत्र ७७।

२. श्रीमन्नन्दीसूत्रम्—अनु० मुनि हस्तीमल, प्रका० रायबहादुर श्री मोतीलाल जी मुथा, सतारा, सन् १९४२।

२. जे० : आचार्य श्री जिनभद्रसूरि जैन ज्ञान भंडार की ताड़पत्रीय प्रति।
३. हं० : मुनि श्री हंसविजय जी महाराज की हस्तलिखित प्रति।
४. पु० : मुनि पुण्य विजय जी महाराज की हस्तलिखित प्रति।
५. पुपा० : मुनि पुण्य वेजय जी महाराज की पु० संज्ञक प्रति की संशोधित एवं पाठभेद युक्त प्रति।
६. क्ष० : आचार्य श्री क्षमाभद्रसूरि की संग्रहित प्रति।
७. च० : मुनि चतुरविजय जी महाराज की प्राचीन प्रति।
८. का० : डॉ० काया द्वारा सम्पादित एवं इंस्टिट्युट द सिविलाइजेशन इंडियन पेरिस द्वारा सन् १९७१ में प्रकाशित प्रति।
९. कापा० : का० प्रति की मुद्रित प्रति के पाठभेद।
१०. के० : मुनि चतुरविजय जी कृत संस्कृत छाया युक्त प्रति।

हमने क्रमांक १ से ९ तक की इन पाण्डुलिपियों के पाठ भेद मुनि पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित पइण्णयसुत्ताइं पुस्तक से ही लिए हैं। इन पाण्डुलिपियों को विशेष जानकारी के लिए हम पाठकों से पइण्णयसुत्ताइं ग्रन्थ की प्रस्तावना के पृष्ठ २६-२७ देख लेने की अनुशंसा करते हैं।

क्रमांक १० पर उल्लेखित के० प्रति के पाठान्तर मुनि चतुरविजय जी कृत संस्कृत छायायुक्त प्रति से दिये हैं। यह प्रति श्री केसरवाई ज्ञान मंदिर, पाटन से सन् १९४१ में प्रकाशित हुई है तथा हमें यह प्रति लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदावाद से प्राप्त हुई है जहाँ इसका पुस्तकालय क्रमांक ६११२ है।

इसके अतिरिक्त एक हस्तलिखित प्रति हमें कलकत्ता निवासी श्रीमान् भीखमचन्द जी सा० भन्साली के द्वारा श्री गोविन्दराम भन्साली परमार्थिक संस्था, वोकानेर से प्राप्त हुई हैं। इस प्रति में भी अन्तिम प्रशस्ति में लिपिकार एवं वर्ष दोनों के उल्लेख अनुपलब्ध होने से यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि यह पाण्डुलिपि कब एवं किसने लिखवाई थी। गाथा परिमाण की दृष्टि से इसमें भी १७५ गाथाएँ ही हैं।

लेखक एवं रचनाकाल का विचार—चन्द्रवेध्यक का उल्लेख यद्यपि नन्दीसूत्र, पाक्षिक सूत्र आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है किन्तु इस ग्रन्थ के लेखक के सम्वन्ध में कहीं पर भी कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता है। जो संकेत हमें मिलते हैं उसके आधार पर मात्र यही कहा जा सकता है कि यह ५वीं शताब्दो या उसके पूर्व के किसी स्थविर आचार्य की कृति है। इसके लेखक के सन्दर्भ में किसी भी प्रकार का कोई संकेत सूत्र उपलब्ध न हो पाने के कारण इस सम्वन्ध में कुछ भी कहना कठिन है।

किन्तु जहाँ तक इस ग्रन्थ के रचना काल का प्रश्न है, हम इतना तो सुनिश्चित रूप से कह सकते हैं कि यह ईस्वी सन् की ५वीं शताब्दी के पूर्व की रचना है क्योंकि चन्द्रवेध्यक का उल्लेख हमें नन्दीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र के अतिरिक्त नन्दी चूर्णि, आवश्यक चर्णि, और निशीथ चूर्णि में मिलता है। चूर्णियों का काल लगभग ६-७वीं शताब्दी माना जाता है। अतः चन्द्रवेध्यक का रचना काल इसके पूर्व ही होना चाहिए। पुनः चन्द्रवेध्यक का उल्लेख नन्दी सूत्र एवं पाक्षिकसूत्र मूल में भी है। नन्दी सूत्र के कर्त्ता देववाचक माने जाते हैं। नन्दी सूत्र और उसके कर्त्ता देववाचक के समय के सन्दर्भ में मुनि श्री पुण्यविजय जी एवं पं० दलसुख भाई मालवणिया ने विशेष चर्चा की है। नन्दी चूर्णि में देववाचक को दूष्यगणी का शिष्य कहा गया है। कुछ विद्वानों ने नन्दीसूत्र के कर्त्ता देववाचक औरो आगमों को पुस्तकारूढ़ करने वाले देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को एक ह मानने की भ्रांति की है। इस भ्रांति के शिकार मुनि श्री कल्याण विजय जी भी हुए हैं, किन्तु उल्लेखों के आधार पर जहाँ देवर्द्धि के गुरु आर्य शांडिल्य हैं, वहीं देववाचक के गुरु दूष्यगणी हैं। अतः यह सुनिश्चित है कि देववाचक और देवर्द्धि एक ही व्यक्ति नहीं है। देववाचक ने नन्दीसूत्र स्थविरावली में स्पष्ट रूप से दूष्यगणी का उल्लेख किया है।

पं० दलसुख भाई मालवणिया ने देववाचक का काल वीर निर्वाण संवत् १०२० अथवा विक्रम् संवत् ५५० माना है, किन्तु यह अन्तिम अवधि ही मानी जाती है। देववाचक उसके पूर्व ही हुए होंगे। आवश्क निर्युक्ति में नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्रों का उल्लेख है, और आवश्यक निर्युक्ति को द्वितीय भद्रबाहु की रचना भी माना जाय तो उसका काल विक्रम की पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही सिद्ध होता है। इन सब आधारों से यह सुनिश्चित है कि देववाचक और उसके द्वारा रचित नन्दी सूत्र ईसा की पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की रचना है। इस सन्दर्भ में विशेष जानने के लिए हम मुनि श्री पुण्यविजय जी एवं पं० दलसुखभाई मालवणिया के नन्दीसूत्र की भूमिका में देववाचक के समय सम्बन्धी चर्चा कों देखने का निर्देश करेंगे। चूंकि नन्दीसूत्र में चन्द्रवेध्यक का उल्लेख है, अतः इस प्रमाण के आधार पर हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ ईसवी सन् की ५ वीं शताब्दी के पूर्व निर्मित हो चुका था। किन्तु इसकी रचना की उत्तर सीमा क्या हो सकती है, यह कह पाना कठिन है। चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक की अनेक गाथाएँ आगमों में—उत्तराध्ययन, ज्ञाता-धर्म कथा और अनुयोगद्वार में, निर्युक्तियों में—आवश्यक निर्युक्ति, उत्तरा-

ध्ययन निर्युक्ति, दशवैकालिक निर्युक्ति तथा ओघ निर्युक्ति में, प्रकीर्णकों में—मरणविभक्ति, भक्तपरिज्ञा, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, तित्थोगाली, आराधनापताका एवं गच्छाचार में तथा यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों में—भगवती आराधना, मूलाचार, नियमसार, अष्टपाहुड—सुत्तपाहुड में तथा भाष्य साहित्य में—विशेषावश्यक भाष्य में लिखती है। ये सभी ग्रन्थ ईसवी सन् की पाँचवीं-छठीं शताब्दी के मध्य के हैं। फिर भी यह निर्धारित कर पाना कठिन है कि ये सभी गाथाएँ इन ग्रन्थों से चन्द्रवेध्यक में आई हैं या चन्द्रवेध्यक से ये गाथाएँ इन ग्रन्थों में ली गई हैं। संभावना दोनों प्रकार की हो सकती है। ज्ञाताधर्म-कथा और अनुयोगद्वार में चन्द्रवेध्यक की जो गाथाएँ मिलती हैं, वे वस्तुतः उद्धृत ही लगती हैं।

जहाँ तक उत्तराध्ययनसूत्र में चन्द्रवेध्यक की गाथाओं का प्रश्न है, वे हमें उसके तीसरे, नवें, अट्ठाईसवें और उनतीसवें अध्याय में मिलती हैं। यद्यपि तीसरे, अट्ठाइसवें और उनतीसवें अध्याय में उपलब्ध होने वाली गाथाओं में कुछ शाब्दिक अन्तर पाया जाता है किन्तु नवें अध्याय में उपलब्ध गाथा शब्दशः समान है। नवें व उनतीसवें अध्याय की जो गाथाएँ चन्द्रवेध्यक में मिलती हैं, वे इतनी सुप्रचलित हैं कि कई अन्य ग्रन्थों में भी ये गाथाएँ पाई जाती हैं। उनतीसवें अध्याय में तो यह गाथा उद्धृत ही लगती है क्योंकि यह पूरा अध्याय ही गद्य रूप में है। अन्य स्थलों पर ये गाथाएँ प्रासंगिक हैं और ग्रन्थ का मूल अंग ही लगती हैं। गाथाओं की इस समरूपता के आधार पर भी किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन ही है। एक सम्भावना यह भी है कि किसी समान स्रोत से ये गाथाएँ विभिन्न ग्रन्थों में ली गई हों।

यदि हम इन गाथाओं के भाषायी स्वरूप पर विचार करें तो इतना निश्चित है कि चन्द्रवेध्यक में इन गाथाओं का भाषायी स्वरूप अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक प्राचीन प्रतीत होता है। किन्तु भाषायी स्वरूप को आधार मानकर इसकी प्राचीनता सिद्ध करना कठिन है क्योंकि जैन परम्परा में जो सूत्र अधिक प्रचलित रहे उन पर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव अधिक आ गया और महाराष्ट्री प्राकृत की बहुलता के आधार पर किसी ग्रन्थ की प्राचीनता और अर्वाचीनता सिद्ध करना एक कठिन समस्या है।

इस ग्रन्थ की ताड़पत्रीय प्रतियाँ भी उपलब्ध होती हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि यह एक प्राचीन एवं बहुप्रचलित ग्रन्थ रहा है, फिर भी इनसे

इसके रचनाकाल के निर्धारण में कोई ठोस सहायता प्राप्त नहीं होती। किन्तु प्रकीर्णक की विषय वस्तु में हमें एक ऐसा संकेत सूत्र उपलब्ध होता है जो इस ग्रन्थ का काल निर्धारण कराने में हमारा सहायक हो सकता है। चन्द्रवेध्यक की गाथा क्रमांक १११ में सम्यक्दर्शन और सम्यक् चारित्र के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए यह बतलाया गया है कि सम्यक् दर्शन से युक्त व्यक्ति सम्यक् चारित्र से युक्त हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है, किन्तु जो व्यक्ति सम्यक् चारित्र से युक्त है उसको तो सम्यक् दर्शन नियम से होता है। चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक की यह मान्यता हमें उत्तराध्ययन एवं उमास्वाति के तत्वार्थ भाष्य और प्रशमरति प्रकरण में उपलब्ध होती है। तत्वार्थ भाष्य में कहा गया है कि—

"एषां च पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरं उत्तरलाभे तु नियमतः पूर्व लाभः[1] अर्थात् सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र में सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होने पर सम्यक् चारित्र विकल्प से होता है अर्थात् होता भी है और नहीं भी होता है किन्तु सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होने से नियम से सम्यक् दर्शन होता है।

इसी तथ्य को प्रशमरति प्रकरण की निम्न कारिका में स्पष्ट किया है—

"पूर्वद्वयसम्पद्यपि तेषां भजनीयमुत्तरं भवति।
पूर्वद्वयलाभः पुनरुत्तरलाभे भवति सिद्धः॥[2]

अर्थात् पूर्व दोनों—सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के होने पर उत्तर सम्यक् चारित्र विकल्प से होता है किन्तु उत्तर—सम्यक् चारित्र के होने पर सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन नियम से होता है।

इस प्रकार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर जो दृष्टिकोण तत्वार्थ भाष्य और प्रशमरति प्रकरण में है वही दृष्टिकोण चन्द्रवेध्यक में है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि चन्द्रवेध्यक का रचनाकाल तत्वार्थ भाष्य और प्रशमरति के पूर्व या समकालीन होना चाहिए। तत्वार्थ भाष्य ओर प्रशमरति को ईस्वी सन् की प्रथम शती से तीसरी शती के मध्य की रचना माना जाता

---

१. (अ) तत्वार्थ भाष्य १।१ (ब) देखें—यापनीय और उनका साहित्य—श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया, पृष्ठ ११८।

२. प्रशमरति, कारिका २३१।

है अतः यही काल चन्द्रवेध्यक का भी होना चाहिए। यदि तत्वार्थ भाष्य के कर्त्ता उमास्वाति को प्रज्ञापना के कर्ता श्यामाचार्य का गुरु माना जाए तो तत्वार्थ भाष्य का काल ईस्वी सन् की प्रथम शतो० के लगभग निर्धारित होता है। यद्यपि इसकी सत्यता भी सन्देह से परे नहीं है तथापि तत्वार्थ की भाँति हो चन्द्रवेध्यक में भो गुणस्थानों और सप्तभंगी आदि के उल्लेखों का जो अभाव है, वह यही सिद्ध करता है कि चन्द्रवेध्यक भी तत्वार्थ भाष्य और प्रशमरति की समकालीन कृति है। इस समग्र चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि चन्द्रवेध्यक की रचना ईस्वी सन् की पाँचवीं शताब्दी से पूर्व कभी हुई है।

विषय वस्तु

'चन्द्रवेध्यक' नाम से हो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ में आचार के जो नियम आदि बताए गये हैं उनका पालन कर पाना चन्द्रकवेध (राधा-वेध) के समान ही मुश्किल है। इस ग्रन्थ में सात द्वारों से सात गुणों का वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार हैं—

१. विनय गुण २. आचार्य गुण ३. शिष्य गुण ४. विनय-निग्रह गुण ५. ज्ञान गुण ६. चारित्र गुण और ७. मरण गुण।

किसो भी ग्रन्थ का प्रारम्भ प्रायः मंगलाचरण से होता है ऐसा हो इस ग्रन्थ में भी हुआ है। ग्रन्थकार मंगलाचरण करते हुए कहता है कि ज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले तथा लोक में ज्ञान का उद्योत करने वाले जिनवरों को नमस्कार हो (१)। ग्रन्थाकार के इस मंगलाचरण से यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि सामान्यतया रत्न-त्रय सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र तीनों का नामोल्लेख साथ-साथ ही होता है तो फिर यहाँ ज्ञान और दर्शन के साथ चारित्र का उल्लेख क्यों नहीं हुआ है ? किन्तु इस प्रश्न का समाधान करते हुए ग्रन्थकार गाथा ७७ में कहता है कि जो ज्ञान है वही क्रिया है (अर्थात् चारित्र है)। इस कथन से प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने सम्यग्चारित्र का समावेश सम्यग्ज्ञान में हो कर दिया है। यह कथन ग्रन्थकार का अपना पृथक् चिन्तन है। अन्य किसी आगम ग्रन्थ में यह शैलो अपनाई गई हो, ऐसा हमें ज्ञात नहीं है। ग्रन्थकार इस सूत्र को मोक्षमार्ग में ले जाने वाला सूत्र कहता है। (२)

विनय गुण—विनय गुण नामक प्रथम द्वार में जो कुछ वर्णन प्राप्त होता है उससे स्पष्ट हाता है कि किसी शिष्य की महानता उसके द्वारा

अर्जित व्यापक ज्ञान पर निर्भर नहीं है वरन् उसकी विनयशीलता पर आधारित है। गुरुजनों का तिरस्कार करने वाले विनय रहित शिष्य के लिए तो कहा है कि वह लोक में कीर्ति और यश को प्राप्त नहीं करता है किन्तु जो विनयपूर्वक विद्या ग्रहण करता है उस शिष्य के लिए कहा है कि वह सर्वत्र विश्वास और कीर्ति प्राप्त करता है। (३-६)

विद्या और गुरु का तिरस्कार करने वाले जो व्यक्ति मिथ्यात्व से युक्त होकर लोकैषणा में फँसे रहते हैं ऐसे व्यक्तियों को ऋषिघातक तक कहा गया है (७-९)। विद्या को तो इस लोक में ही नहीं, परलोक में भी सुखप्रद बतलाया है (१२)

विद्या प्रदाता आचार्य एवं शिष्य के विषय मे कहा है कि जिस प्रकार समस्त प्रकार की विद्याओं के प्रदाता गुरु कठिनाई से प्राप्त होते हैं उसी प्रकार चारों कषायों तथा खेद से रहित सरलचित्त वाले शिक्षक एवं शिष्य भी मुश्किल से प्राप्त होते हैं (१४-२०)। यापनीय परम्परा के ग्रन्थ मूलाचार में भी विनय गुण को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि विनय से पढ़ा गया शास्त्र यद्यपि प्रमाद से विस्मृत भी हो जाता है तो भी वह परभव में उपलब्ध हो जाता है और केवल ज्ञान को प्राप्त करा देता है।[1]

आचार्य-गुण—

विनय गुण के पश्चात् आचार्य गुण की चर्चा करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी के समान सहनशील, पर्वत की तरह अकम्पित, धर्म में स्थित चन्द्रमा की तरह सौम्यकांति वाले, समुद्र के समान गम्भीर तथा देश काल के जानकार आचार्यों की सर्वत्र प्रशंसा होती है। (२१-३१)

इस ग्रन्थ में आचार्यों के कुल छत्तीस गुण बतलाए गए हैं। इसी प्रकार कई अन्य जैन ग्रन्थों में भी आचार्यों के छत्तीस गुणों का तो उल्लेख मिलता है किन्तु वे छत्तीस गुण इन गुणों से भिन्न प्राप्त होते हैं।

भगवती आराधना में आचार्य को आचारवान्, आधार वान्, व्यवहारवान्, कर्ता तथा रत्नत्रय के लाभ और विनाश को दिखाने वाला, अपरिस्त्रावी, निर्वापक, निर्यापक, प्रसिद्ध कीर्तिशाली और निर्यापन गुण से युक्त कहा है।[2] आगे कहा गया है कि आठ ज्ञानाचार, आठ

---

१. मूलाचार, गाथा २८६।

२. भगवती आराधना, गाथा ४१९-४२०।

दर्शनाचार, वारह प्रकार के तप, पाँच समिति और तीन गुप्ति, ये छत्तीस गुण आचार्य के हैं।[1]

वट्टकेर ने मूलाचार में आचार्य को निम्नलिखित गुणों से युक्त माना है—संग्रह और अनुग्रह में कुशल, सूत्र के अर्थ में विशारद, कीर्ति से प्रसिद्धि पाने वाला, क्रियाओं के आचरण में तत्पर, ग्रहण करने योग्य तथा उपादेय वचन वोलने वाला, गम्भीर, दुर्धर्ष, शूर, धर्म की प्रभावना करने वाला, पृथ्वी की तरह सव कुछ सहने वाला, चन्द्रमा की तरह सौम्य कांति वाला तथा समुद्र के समान गंभीर को आचार्य माना है।[2]

प्रवचनसारोद्धार में भी आचार्य के छत्तीस गुणों का तीन प्रकार से उल्लेख मिलता है।[3]

आचार्यों की महानता के विषय में कहा गया है कि आचार्यों की भक्ति से जहाँ जीव इस लोक में कीर्ति और यश प्राप्त करता है वहीं परलोक में विशुद्ध देवयोनि और धर्म में सर्वश्रेष्ठ वोधि को प्राप्त करता है (३२)। आगे कहा गया है कि इस लोक के जीव तो क्या देवलोक में स्थित देवता भी अपने आसन व शय्या आदि का त्याग कर अप्सरा समूह के साथ आचार्यों की वन्दना करने के लिए जाते हैं। (३३-३४)

त्याग और तपस्या से भी महत्त्वपूर्ण गुरु वचन का पालन मानते हुए कहा गया है कि अनेक उपवास करते हुए भी जो गुरु के वचनों का पालन नहीं करता वह अनन्त संसारी होता है। (३५)

शिष्य गुण—आचार्य गुण के पश्चात् इस प्रकीर्णक ग्रन्थ में शिष्य गुण का उल्लेख हुआ है जिसमें कहा गया है कि नाना प्रकार से परिषहों को सहन करने वाले, लाभ-हानि में सुख-दुख रहित रहने वाले, अल्प इच्छा में संतुष्ट रहने वाले, ऋद्धि के अभिमान से रहित, दस प्रकार की सेवा-सुश्रुषा में सहज, आचार्य की प्रशंसा करने वाले तथा संघ की सेवा करने वाले एवं ऐसे ही विविध गुणों से सम्पन्न शिष्य की कुशल जन प्रशंसा करते हैं (३७-४२)।

आगे कहा गया है कि समस्त अहंकारों को नष्ट करके जो शिष्य शिक्षित होता है, उसके वहुत से शिष्य होते हैं, किन्तु कुशिष्य के कोई भी

---

१. भगवती आराधना गाथा ५२७।

२. मूलाचार, गाथा १५८-१५९।

३. प्रवचनसारोद्धार—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, गाथा ५४१-५४९।

शिष्य नहीं होते (४३)। शिक्षा किसे दी जाए, इस सम्बन्ध में कहा गया है कि किसी शिष्य में सैंकड़ों दूसरे गुण भले ही क्यों न हों, किन्तु यदि उसमें विनय गुण नहीं है तो ऐसे पुत्र को भी वाचना न दी जाए। फिर गुण विहीन शिष्य को तो क्या ? अर्थात् उसे तो वाचना दी ही नहीं जा सकती (४४-५१)।

विनय-निग्रह गुण

प्रस्तुत कृति में विनय गुण और विनय-निग्रह गुण इस प्रकार के दो स्वतन्त्र द्वार हैं, किन्तु विनय गुण और विनय-निग्रह गुण में क्या अंतर है, यह इनकी विपयवस्तु से स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि दोनों ही द्वारों की गाथाओं में जो विवरण दिया गया है उसका तात्पर्य विनम्रता या आज्ञा-पालन से ही है। यद्यपि प्राचीन आगम ग्रन्थों में विनय शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—एक विनम्रता के अर्थ में और दूसरा आचार के नियमों के अर्थ में।

बौद्ध त्रिपिटक में विनय पिटक नाम का एक विभाग है, इस विभाग में मुख्य रूप से आचार व्यवहार के नियमों की चर्चा है। अतः विनय शब्द विनम्रता के साथ-साथ आचार-नियमों का भी सूचक है। विनय-निग्रह द्वार में भी कुछ गाथाएँ ऐसी है जिनमें विनय का तात्पर्य आचार-नियम से है जैसे—"गुणहीण विणयहीणं चरित्तजोगण पासत्थ" (५७) "खंति वलाओ य तवो नियमविसेसो य विणयाओ" (५९) "सव्वो चरित्तसारो विणयम्मि पइट्ठिओ मणूसाणं।" (६३)। इन सभी प्रसंगों में विनय का तात्पर्य आचार-नियम ही प्रतिफलित होता है अतः यह कहा जा सकता है कि विनय-निग्रह गुण से लेखक का तात्पर्य आगमोक्त आचार नियमों के परिपालन से रहा होगा।

विनय-निग्रह नामक इस परिच्छेद में विनय को मोक्ष का द्वार कहा गया है और इसलिए सदैव विनय का पालन करने की प्रेरणा दी गई है तथा कहा गया है कि शास्त्रों का थोड़ा जानकार पुरुष भी विनय से कर्मों का क्षय करता है। (५४) आगे कहा गया है कि सभी कर्मभूमियों में अनन्त ज्ञानी जिनेन्द्र देवों के द्वारा भी सर्वप्रथम विनय गुण को प्रतिपादित किया गया है तथा इसे मोक्षमार्ग में ले जाने वाला शाश्वत गुण कहा है। मनुष्यों के सम्पूर्ण सदाचरण का सारतत्त्व भी विनय में ही प्रतिष्ठित होना बतलाया है। इतना ही नहीं, आगे कहा है कि विनय रहित तो निर्ग्रन्थ साधु भी प्रशंसित नहीं होते। (६१–६३)

ज्ञान गुण

ज्ञान गुण नामक पाँचवें द्वार में ज्ञान गुण का वर्णन करते हुए कहा है कि वे पुरुष धन्य हैं, जो जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट अति विस्तृत ज्ञान को समग्रतया नहीं जानते हुए भी चारित्र सम्पन्न है (६८) । ज्ञात दोपों का परित्याग और गुणों का परिपालन, ये ही धर्म के साधन कहे गये हैं (७१) । आगे कहा गया है कि जो ज्ञान है वही क्रिया या आचरण है, जो आचरण है वही प्रवचन अर्थात् जिनोपदेश का सार है और जो प्रवचन का सार है, वही परमतत्व है (७७) ।

प्रस्तुत ग्रन्थ की विपय वस्तु की यह चर्चा वड़ी महत्वपूर्ण प्रतीत होती है, क्योंकि इसमें ज्ञान व क्रिया के समन्वय पर विशेप वल दिया गया है । मात्र यही नहीं ग्रन्थकार तो ज्ञान व क्रिया को एक दूसरे का अभिन्न भी वतलाता है उसको दृष्टि में जो ज्ञान आचरण का विषय नहीं वनता, वह ज्ञान वस्तुतः निरर्थक है । ज्ञान का सदाचरण के साथ इस प्रकार का संयोजन इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है ।

ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि इस लोक में अत्यधिक सुन्दर व विलक्षण होने से क्या लाभ ? क्योंकि लोक में तो चन्द्रमा की तरह लोग विद्वान् के मुख को ही देखते हैं (८१) । आगे कहा है कि ज्ञान ही मुक्ति का साधन है, क्योंकि ज्ञानी व्यक्ति संसार में परि-भ्रमण नहीं करता है । (८३-८४) अन्त में साधक के लिए कहा गया है कि जिस एक पद के द्वारा व्यक्ति वीतराग के मार्ग में प्रवृत्ति करता है, मृत्यु समय में भी उसे छोड़ना नहीं चाहिए । (९४-९७)

चारित्र गुण

चारित्र गुण नामक छठें द्वार में उन पुरुपों को प्रशंसनीय वतलाया गया है, जो गृहस्थरूपी वन्धन से पूर्णतः मुक्त होकर जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट मुनि-धर्म के आचरण हेतु प्रवृत्त होते हैं । (१००) पुनः दृढ़ धैर्य वाले मनुष्यों के विषय में कहा है कि वे दुःखों के पार चले जाते हैं । (१०३) आगे यह भी कहा गया है कि जो उद्यमी पुरुप क्रोध, मान, माया, लोभ, अरति और जुगुप्सा को समाप्त कर देते हैं, वे परम सुख को खोज पाते हैं । (१०४) चारित्रशुद्धि के विषय में कहा गया है कि पाँच समिति और तीन गुप्तियों में जिसकी निरन्तर मति है तथा जो राग-द्वेष नहीं करता है, उसी का चारित्र शुद्ध होता है । (११४) ।

प्रस्तुत कृति में यहाँ एक प्रश्न उपस्थित किया गया है कि सम्यक्-

दर्शन और सम्यक्चारित्र दोनों एक साथ उपस्थित हो जाय तो बुद्धिमान पुरुष वहाँ किसे ग्रहण करे ? अर्थात् किसे प्राथमिकता दे ? इसके प्रत्युत्तर में कहा गया है कि बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह दर्शन को पकड़ रखे, क्योंकि चारित्र रहित व्यक्ति तो भविष्य में सम्यक्चरित्र का अनुसरण करके सिद्ध हो सकते हैं, किन्तु दर्शनरहित व्यक्ति कभी भी सिद्ध नहीं हो सकते। (११०-११२) इस प्रकार प्रस्तुत कृति में दर्शन की प्राथमिकता को स्वीकार किया गया है।

सामान्यतया जैन आचार्यों ने धर्म साधना के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनों को समन्वित रूप में ही साधना मार्ग के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार साधना की पूर्णता त्रिविध साधनापथ के समन्वित परिपालन में ही सम्भव है। जैन-विचारक तीनों के समवेत से ही मुक्ति मानते हैं। उनके अनुसार इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष या साध्य की प्राप्ति सम्भव नहीं। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि दर्शन के विना ज्ञान नहीं होता और जिसमें ज्ञान नहीं है उसका आचरण सम्यक् नहीं होता और सम्यक् आचरण के अभाव में आसक्ति से मुक्त नहीं हुआ जाता है ओर जो आसक्ति से मुक्त नहीं, उसका निर्वाण या मोक्ष नहीं होता।[1] इस प्रकार यद्यपि यहाँ भी दर्शन को प्राथमिकता दी गई है। फिर भी साधना की पूर्णता तो सम्यक्चरित्र में ही मानी गई है।

तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने अपने ग्रन्थ में दर्शन को ज्ञान और चारित्र के पहले स्थान दिया है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द दर्शनपाहुड में कहते हैं कि धर्म (अर्थात् साधना मार्ग) दर्शन प्रधान है।[3]

चारित्र और ज्ञान-दर्शन के पूर्वापर सम्बन्ध को लेकर जैन-विचारणा में कोई विवाद नहीं है। चारित्र की अपेक्षा ज्ञान और दर्शन को प्राथमिकता प्रदान की गई है। चारित्र साधना-मार्ग में गति है। जबकि ज्ञान साधना पथ का बोध है और दर्शन यह विश्वास जागृत करता है कि यह पथ उसे अपने लक्ष्य की ओर ले जाने वाला है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि व्यक्ति ज्ञान से (साधना मार्ग को) जाने, दर्शन के

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र २८।३०

२. तत्त्वार्थसूत्र, १/१।

३. दर्शन पाहुड, २।

द्वारा उस पर विश्वास करे और चारित्र से उस साधना मार्ग पर आचरण करता हुआ तप से अपनी आत्मा का परिशोधन करे।[१]

यद्यपि इस कथन से असहमति प्रकट नहीं की जा सकती कि लक्ष्य प्राप्ति के लिए चारित्ररूप प्रयास आवश्यक है किन्तु प्रयास को भी लक्ष्योन्मुख और सम्यक् होना चाहिए। मात्र अन्धे प्रयासों से लक्ष्य प्राप्त नहीं होता। यदि व्यक्ति का ज्ञान और दर्शन यथार्थ नहीं है, तो उसका चारित्र या आचरण भी यथार्थ नहीं होगा। इसलिए जैन आगमों में चारित्र की अपेक्षा दर्शन को प्राथमिकता देते हुए कहा गया है कि सम्यक् दर्शन के अभाव में सम्यक् चारित्र नहीं होता।[२] भक्तपरिज्ञा में कहा गया है कि दर्शन से भ्रष्ट ही वास्तविक भ्रष्ट है, चारित्र से भ्रष्ट भ्रष्ट नहीं है, क्योंकि जो दर्शन से युक्त है वह संसार में अधिक परिभ्रमण नहीं करता, किन्तु दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति संसार से मुक्त नहीं होता। कदाचित् चारित्र से रहित सिद्ध भी हो जावे, लेकिन दर्शन से रहित कभी भी मुक्त नहीं होता।[3] आचार्य भद्रबाहु आचारांग निर्युक्ति में कहते हैं कि सम्यक् दृष्टि से ही तप, ज्ञान और सदाचरण सफल होते हैं।[४] इस प्रकार प्रायः सभी ग्रन्थों में दर्शन को ही प्राथमिकता दी गई है।

मरण गुण

विनय गुण, आचार्य गुण, शिष्य गुण, विनय-निग्रह गुण, ज्ञान गुण और चारित्र गुण का वर्णन करने के पश्चात् अन्त में ग्रन्थकार मरण गुण का प्रतिपादन करते हुए समाधिमरण की उत्कृष्टता का बोध कराते हैं। वे कहते हैं कि विषय सुखों का निवारण करने वाली पुरुषार्थी आत्मा मृत्यु समय में समाधिमरण की गवेषणा करने वाली होती है। (१२०) आगे कहा गया है कि आगम ज्ञान से युक्त किन्तु रसलोलुप साधुओं में कुछ ही समाधिमरण प्राप्त कर पाते हैं किन्तु अधिकांश का समाधिमरण नहीं होता है। (१२३)

कौन व्यक्ति लक्ष्य प्राप्त कर सकता है? इस विषयक कथन करते हुए कहा गया है कि विनिश्चित बुद्धि से अपनी शिक्षा का स्मरण करने वाला व्यक्ति ही कसे हुए धनुष पर तीर चढ़ाकर चन्द्र अर्थात् यन्त्र चालित

१. उत्तराध्ययान, २८/३५।
२. उत्तराध्ययन, २८/२९।
३. भक्तपरिज्ञा, ६५-६६।
४. आचारांगनिर्युक्ति, २२।

पुतलि के अक्षिका गोलक को वेध पाता है किन्तु जो व्यक्ति थोड़ा सा भी प्रमाद कर जाता है तो वह लक्ष्य को नहीं वेध पाता। (१२८-१२९) वस्तुतः चन्द्रवेध्यक का अर्थ प्राप्त-लक्ष्य है।

समाधिमरण किसका होता है? इस विषय में कहा गया है कि सम्यक् बुद्धि को प्राप्त, अन्तिम समय में साधना में विद्यमान, पाप कर्म की आलोचना, निन्दा और गर्हा करने वाले व्यक्ति का मरण ही शुद्ध होता है अर्थात् उसका ही समाधिमरण होता है। (१३१) साथ ही यहाँ मृत्यु के अवसर पर कृतयोग वाला कौन होता है इस पर भी चर्चा की गई है। (१३३-१४०)

कषायों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जिस मनुष्य ने करोड़ पूर्व वर्ष से कुछ कम वर्ष तक चारित्र का पालन किया हो, ऐसे दीर्घ संयमी व्यक्ति के चारित्र को भी ये कषाय क्षण भर में नष्ट कर देते हैं। (१४३-१४४)

साधु चर्या का वर्णन करते हुए कहा है कि वे साधु धन्य हैं, जो सदैव राग रहित, जिन वचनों में लीन तथा निवृत्त कषाय वाले हैं एवं आसक्ति और ममता रहित होकर अप्रतिबद्ध विहार करने वाले, निरन्तर सद्गुणों में रमण करने वाले तथा मोक्षमार्ग में लीन रहने वाले हैं। (१४७-१४८)

बुद्धिमान् पुरुष के लिए कहा गया है कि वह गुरु के समक्ष सर्वप्रथम अपनी आलोचना और आत्मनिंदा करें, तत्पश्चात् गुरु जो प्रायश्चित दे, उसकी स्वीकृति रूप 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ से गुरु को वन्दना करे और गुरु को कहे कि—आपने मुझे निस्तारित किया। (१५१-१५२)

आगे की गाथाओं में समाधिमरण का उल्लेख करते हुए आसक्ति-त्याग पर बल दिया गया है। वस्तुतः आसक्ति ही वह कारण है जो व्यक्ति को बन्धन में डालती है। जिसके कारण व्यक्ति सांसारिक मोह-माया में फँसता जाता है परिणामस्वरूप उसके कर्म बन्धन दृढ़ होते जाते हैं। यह मानव स्वभाव है कि व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं यथा—सोना-चाँदी, दास-दासी, धन-वैभव आदि भौतिक सम्पदाओं तथा स्वजन-परजन आदि के प्रति अपना ममत्व भाव रखता है और इन हेय पदार्थों को उपादेय मान लेता है, परिणामस्वरूप वह जन्म-मरण के भव-चक्र में पड़ जाता है। किन्तु मनुष्य के मृत्यु समय में न तो परिजन सहायक होते हैं और न ही नाना प्रकार की भौतिक सम्पदा ही उसकी सहायता कर पाती है। सम्भवतः यही कारण है कि प्रत्येक जैन मतावलम्बी अपने जीवन के

अन्तिम क्षण में समस्त प्रकार के क्लेषों से मुक्त होकर तथा राग-द्वेष को छोड़कर भगवान् जिनदेव से प्रार्थना करता है कि हे भगवन् ! मैं समाधि-मरण के पथ पर चलना चाहता हूँ, इस दिशा में मेरा मार्गदर्शन करो तथा मुझे इतनी शक्ति प्रदान करो कि मैं आसक्ति के सारे बन्धनों को काटकर वोधि प्राप्त कर सकूं और मानव जीवन पाने का यथार्थ लाभ प्राप्त कर सकूँ।

समाधिमरण लेने वाले कि तुलना एक कुशल व्यापारी से की जा सकती है। सोना-चाँदी, हीरे-जवाहरात का व्यापार करने वाले व्यापारी को यह कभी इष्ट नहीं होगा कि उसके सामान को किसी प्रकार से नुक-सान पहुँचे। कदाचित् परिस्थितिवश उसके सामान को नुकसान पहुँचने लगता है। तो पहले तो वह अपने सारे सामान को वचाने का प्रयास करता है, किन्तु जव ऐसा कर पाना उसके लिए सहज नहीं रहता है तो वह वहुमूल्य वस्तुओं को नष्ट होने से वचाता है और अल्प-मूल्य वाली वस्तुओं को नष्ट होने देता है।

समाधिमरण का व्रत लेने वाला साधक भी ठीक उसी व्यापारी की तरह शरीर एवं उसमें उपस्थित सद्‌गुणों की रक्षा करता है। शरीर भी एक प्रकार से सांसारिक वस्तु ही है और सामान्यतया प्रत्येक प्राणी को सबसे अधिक आसक्ति अपने शरीर से ही होती है। वीमारी हो जाने की अवस्था में भी वह शरीर की रक्षा का भरसक प्रयास करता है, किन्तु जव उसे यह ज्ञात हो जाता है कि वह अपने शरीर की रक्षा नहीं कर पाएगा तो वह शरीर के प्रति अपनी आसक्ति का त्याग करके उसमें रहने वाले सद्‌गुणों की ही रक्षा करता है। यहाँ यह कथन करने का हमारा अभिप्राय मात्र यह है कि समाधिकरण के इच्छुक व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं के प्रति किसी तरह की आसक्ति नहीं रखते हैं। वे इस हेतु अपने शरीर के मोह का भी त्याग कर देते हैं। उनके लिए संसार के समस्त वैभव, सुख-दुःख, भोग-विलास, सोना-चाँदी दास-दासी, वन्धु-बान्धव आदि सभी कुछ आत्म समाधि की अपेक्षा तुच्छ है।

ग्रन्थ का समापन यह कहकर किया गया है कि—विनय गुण, आचार्य गुण, शिष्य-गुण, विनय-गुण, ज्ञान गुण, चारित्र-गुण और मरण गुण विधि को सुनकर उन्हें उसी प्रकार धारण करें, जिसप्रकार वे शास्त्र में प्रति-पादित हैं। इस प्रकार की साधना से गर्भवास में निवास करने वाले जीवों के जन्म-मरण, पुनर्भव, दुर्गति और संसार में गमनागमन समाप्त हो जाते हैं (१७४-१७५)।

चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक और अन्य आगम ग्रन्थ
तुलनात्मक विवरण

[१] जह दीवा दीवसयं पइप्पए सो य दिप्पए दीवो ।
दीवसमा आयरिया दिप्पंति, परं च दीवेंति ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ३०)

[२] विणओ मोक्खद्दारं विणयं मा हू कयाइ छड्डेज्जा ।
अप्पसुओ वि हु पुरिसो विणएण खवेइ कम्माइं ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ५४)

[३] पुव्विं परूविओ जिणवरेहिं विणओ अणंतनाणीहिं ।
सव्वासु कम्मभूमिसु निच्चं चिय मोक्खमग्गम्मि ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ६१)

[४] बहुयं पि सुयमहीयं किं काही विणयविप्पहीणस्स ? ।
अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडी वि ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ६६)

[५] नादंसणिस्स नाणं, न वि अन्नाणिस्स होंति करणगुणा ।
अगुणस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमुत्तस्स नेव्वाणं ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ७६)

[६] नाणं पगासगं, सोहओ तवो, संजमो य गुत्तिकरो ।
तिण्हं पि समाओगे मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ८०)

[१] (i) जह दीवा दीवसयं, पईप्पए सो य दिप्पए दीवो।
दीवसमा आयरिया, अप्पं च परं च दीवंति ॥
(उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ८)

(ii) जह दीवा दीवसयं पइप्पई सो अ दिप्पई दीवो।
दीवसमा आयरिया दिप्पंति परं च दीवंति ॥
(दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ३१)

(iii) जह दीवा दीवसतं पइप्पए, दिप्पए य सो दीवो।
दीवसमा आयरिया दिप्पंति, परं च दीवेंति ॥
(अनुयोगद्वार-मधुकर मुनि, गाथा १२६)

[२] विणयो सासणे मूलं विणीतो संजतो भवे।
विणया विप्पमुक्कस्स कतो धम्मो कतो तवो ॥
(विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ४१९४)

[३] पुव्वं चेव य विणओ परूविदो जिणवरेहिं सव्वेहिं।
सव्वासु कम्मभूमिसु णिच्चं मोक्खमग्गम्मि ॥
(मूलाचार, भाग २, गाथा ५८१)

[४] सवहुँपि सुयमहीयं, किं काही ? चरणविप्पहीणस्स।
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडीवि ॥
(आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ९८)

[५] नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥
(उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन २८, गाथा ३०)

[६] (i) नाणं पयासगं सोहओ तवो संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हंपि समाजोगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥
(आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १०३)

(ii) णाणं पयासयं चिय गुत्ति विसुद्धिफलं च जं चरणं।
मोक्खो य दुगाधीणो चरणं णाणस्स तो सारो ॥
(विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ११२७)

(iii) नाणं पयासओ साधओ तवो संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥
(भगवती आराधना, भाग १, गाथा ७६८)

(iv) नाणं पयासओ तओ साधओ संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हं पि संपजोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो ॥
(मूलाचार, भाग २, गाथा ९०१)

[७] किं एत्तो लट्ठयरं अच्छेरतरं च सुन्दरतरं च ? ।
चंदमिव सव्वलोगा वहुस्सुयमुहं पलोएंति ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ८१)

[८] सूई जहा ससुत्ता न नस्सई कयवरम्मि पडिया वि ।
जीवो तहा ससुत्तो न नस्सइ गओ वि संसारे ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ८३)

[९] सूई जहा असुत्ता नासइ सुत्ते अदिस्समाणम्मि ।
जीवो तहा असुत्तो नासइ मिच्छत्तसंजुत्तो ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ८४)

[१०] परमत्थम्मि सुदिट्ठे अविणट्ठेसु तव-संजमगुणेसु ।
लब्भइ गई विसिट्ठा सरीरसारे विणट्ठे वि ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ८५)

[७] किं एत्तो लट्ठयरं अच्छेरतरं व सुंदरतरं वा ?।
चंदमिव सव्वलोगा बहुस्सुयमुहं पलोएंति ॥
(मरणविभक्ति, गाथा १४४)

[८] (i) जहा सुई ससुत्ता, पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ ॥
(उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २९, गाथा ६०)

(ii) सूई जहा ससूत्ता, न नस्सई कयवरम्मि पडिया वि।
जीवो वि तह ससुत्तो न नस्सइ गओ वि संसारे ॥
(भक्तपरिज्ञा, गाथा ८६)

(iii) सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि तहा पमाददोसेण ॥
(मूलाचार, भाग २, गाथा ९७३)

(iv) पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि संसारे।
सच्चेदण पच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥
(सूत्रपाहुड, गाथा ४)

[९] (i) जाव य सुई न नासइ, जाव य जोगा न ते पराहीणा।
सद्धा व जा न हायइ, इंदिय जोगा अपरिहीणा ॥
(मरणविभक्ति, गाथा १५४)

(ii) सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि ॥
(सूत्रपाहुड, गाथा ३)

[१०] परमत्थम्मि सुदिट्ठे अविणट्ठेसु तव-संजमगुणेसु।
लब्भइ गई विसुद्धा सरीरसारे विणट्ठम्मि ॥
(मरण विभक्ति, गाथा १५०)

[११] वारसविहम्मि वि तवे सब्भितरबाहिरे जिणक्खाए ।
न वि अत्थि न वि य होही सज्झायसमं तवोकम्मं ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ८९)

[१२] एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं वच्चए नरोऽभिक्खं ॥
तं तस्स होइ नाणं जेण विरागत्तणमुवेइ ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ९३)

[१३] एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं वीयरागमग्गम्मि ।
वच्चइ नरो अभिक्खं तं मरणंते न मोत्तव्वं ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ९४)

[१४] एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए ।
सो तेण मोहजालं खवेइ अज्झप्पजोगेणं ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ९५)

[११] (i) वारसविहम्मि वि तवे सब्भिंतर वाहिरे कुसलदिट्ठे ।
अगिलाइ अणाजीवी नायव्वो सो तवायारो ॥
(दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १८६)

(ii) वारसविहम्मि वि तवे अब्भिंतर-वाहिरे कुसलदिट्ठे ।
न वि अत्थि न वि य होही सज्झायसमं तवोकम्मं ॥
(मरणविभक्ति, गाथा १२८)

(iii) वारसविहम्मि वि तवे सऽब्भिंतरवाहिरे जिणक्खाए ।
न वि अत्थि न वि य होहिइ सज्झायसमं तवोकम्मं ॥
(आराधनापताका, गाथा ५८९)

(iv) बारसविहम्मि य तवे सब्भंतरवाहिरे कुसलदिट्ठे ।
ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवोकम्मं ॥
(भगवती आराधना, भाग १, गाथा १०६)

(v) वारसविधह्मि य तवे सब्भंतरवाहिरे कुसलदिट्ठे ।
ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवोकम्मं ॥
(मूलाचार, भाग २, गाथा ९७२)

[१२] एक्कम्मि वि जम्मि पत्ते संवेगं कुणति वीयरागमते ।
तं तस्स होति णाणं जेण विरागत्तणमुवेत्ति ॥
(विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ३५७७)

[१३] (i) एगम्मि वि जम्मि पए संवेगं वीयरायमग्गम्मि ।
गच्छइ नरो अभिक्खं तं मरणं तेण मरियव्वं ॥
(आतुर प्रत्याख्यान (१), गाथा ६०)

(ii) एक्कम्मि वि जम्मि पदे संवेगं वीदरायमग्गम्मि ।
गच्छदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥
(भगवती आराधना, भाग १, गाथा ७७४)

(iii) एक्कह्मि विदियह्मि पदे संवेगो वीयरायमग्गम्मि ।
वच्चदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥
(मूलाचार, भाग १, गाथा ९३)

[१४] (i) एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए ।
सो तेण मोहजालं छिंदइ अज्झप्पयोगेणं ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १०४)

(ii) एक्कम्मि वि जम्मि पत्ते संवेगं कुणति वीतरागमते ।
सो तेण मोहजालं छिन्दति अज्झप्पजोगेणं ॥
(विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ३५७८)

[१५] न हु मरणम्मि उवग्गे सक्का बारसविहो सुयक्खंधो ।
सव्वो अणुचिंतेउं धणियं पि समत्थचित्तेणं ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ९६)

[१६] आराहणोवउत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं ।
उक्कोसं तिण्णि भवे गंतूण लभेज्ज निव्वाणं ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ९८)

[१७] लद्धूण वि माणुस्सं सुदुल्लहं जे पुणो विराहेंति ।
ते भिन्नपोयसंजत्तिगा व पच्छा दुही होंति ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १०५)

[१८] सम्मत्तं अचरित्तस्स हवइ, जह कण्ह-सेणियाणं तु ।
जे पुण चरित्तमंता तेंसिं नियमेण सम्मत्तं ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १११)

[१९] भट्ठेण चरित्ताओ सुट्ठुयरं दंसणं गहेयव्वं ।
सिज्झंति चरणरहिया, दंसणरहिया न सिज्झंति ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ११२)

[२०] उक्कोसचरित्तो वि य पडेइ मिच्छत्तभावओ कोइ ।
किं पुण सम्मद्दिट्ठी सरागधम्मम्मि वट्टंतो ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ११३)

[१५] (i) न हु मरणम्मि उवग्गे सक्का वारसविहो सुयक्खंधो।
सव्वो अणुचिंतेउं धंतं पि समत्थचित्तेणं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १०२)

(ii) न हु तम्मि देसकाले सक्को वारसविहो सुयक्खंधो।
सव्वो अणुचिंतेउं धणियं पि समत्थचित्तेणं॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ५९)

[१६] (i) आराहणाइ जुत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं।
उक्कोसं तिण्णि भवे गंतूण लभेज्ज निव्वाणं॥
(ओघनिर्युक्ति, गाथा ८०८)

(ii) आराहणोवउत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं।
उक्कोसं तिण्णि भवे गंतूण लभेज्ज नेव्वाणं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १३१)

(iii) आराहणावउत्तो कालं काऊण सुविहिओ सम्मं।
उक्कोसं तिन्नि भवे गंतूण लहइ निव्वाणं॥
(आतुर प्रत्याख्यान, गाथा ६२)

(iv) आराहण उवजुत्तो कालं काऊण सुविहिओ सम्मं।
उक्कस्सं तिण्णि भवे गंतूण य लहइ निव्वाणं॥
(मूलाचार, भाग १, गाथा ९७)

[१७] माणुस्सं विग्गहं लद्धुं सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति तवं खन्तिमहिंसयं॥
(उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय ३, गाथा ८)

[१८] (i) सम्मत्तं अचरित्तस्स हुज्ज भयणाइ नियमसो नत्थि।
जो पुण चरित्तजुत्तो तस्स उ नियमेण सम्मत्तं॥
(आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ११७६)

(ii) नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्त-चरित्ताइं जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं॥
(उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय २८, गाथा २९)

[१९] (i) भट्ठेण चरित्ताओ सुट्ठुयरं दंसणं गहेयव्वं।
सिज्झंति चरणरहिया दंसणरहिया न सिज्झंति॥
(आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ११७३)

(ii) भट्ठेण चरित्ताओ सट्ठुतरं दंसणं गहेयव्वं।
सिज्झंति चरणहीणा, दंसणहीणा न सिज्झंति॥
(तित्थोगाली, गाथा १२१७)

[२०] उक्कोसचरित्तो वि य परिवडई मिच्छाभावणं कुणइ।
किं पुण सम्मिद्दिट्ठो सरागधम्मम्मि वट्टंतो?॥
(मरणविभक्ति, गाथा १५२)

[२१] अविरहिया जस्स मई पंचहिं समिईहिं तिहिं वि गुत्तीहिं ।
न य कुणइ राग-दोसे तस्स चरित्तं हवइ सुद्धं ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ११४)

[२२] तम्हा तेसु पवत्तह कज्जेसु य उज्जमं पयत्तेणं ।
सम्मत्तम्मि चरित्ते नाणम्मि य मा पमाएह ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ११५)

[२३] पुव्विं कारियजोगो समाहिकामो य मरणकालम्मि ।
भवइ य परीसहसहो विसयसुहनिवारिओ अप्पा ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १२०)

[२४] असमत्तसुओ वि मुणी पुव्विं सुकयपरिकम्मपरिहत्थो ।
संजम-मरणपइन्नं सुहमव्वहिओ समाणेइ ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १२४)

[२५] इंदियसुहसाउलओ घोरपरीसहपरव्वसविउत्तो ।
अकयपरिकम्म कीवो मुज्झइ आराहणाकाले ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १२५)

[२६] तम्हा चंदगवेज्झस्स कारणा अप्पमाइणा निच्चं ।
अविरहियगुणो अप्पा कायव्वो मोक्खमग्गम्मि ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १३०)

[२७] जे मे जाणंति जिणा अवराहे नाण-दंसण-चरित्ते ।
ते सव्वे आलोए उवट्ठिओ सव्वभावेणं ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १३२)

[२१] अवरहिया जस्स मई पंचहिं समिईहिं तिहि वि गुत्तीहिं।
न य कुणइ राग-दोसे, तस्स चरित्तं हवइ सुद्धं॥
(मरणविभक्ति, गाथा १५१)

[२२] तम्हा घत्तह दोसु वि काउं जे उज्जमं पयत्तेणं।
सम्मत्तम्मि चरित्ते करणम्मि य मा पमाएह॥
(मरणविभक्ति, गाथा १५३)

[२३] (i) पुव्विं कारियजोगो सामाहिकामो य मरणकालम्मि।
स भवइ परीसहसहो विसयसुहनिवारिओ अप्पा॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ८७)

(ii) पुव्विं कारियजोगो समाहिकामो य मरणकालम्मि।
होइ उ परीसहसहो विसयसुहनिवारिओ जीवो॥
(मरणविभक्ति, गाथा २७७)

(iii) पुव्वं कारिदजोगो समाधिकामो तहा मरणकाले।
होदि परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो॥
(भगवती आराधना, भाग १, गाथा १९५)

[२४] असमत्तसुओ वि मुणी पुव्विं सुकयपरिकम्मपरिहत्थो।
संजम-नियमपइन्नं सुहमव्वहिओ समाणेइ॥
(मरणविभक्ति, गाथा १६९)

[२५] इंदियसुहसाउलओ घोरपरीसहपराइयपरज्झो।
अकयपरिकम्म कीवो मुज्झइ आराहणाकाले॥
(मरणविभक्ति, गाथा १६६)

[२६] तह्मा चंदयवेज्झस्स कारणेण उज्जदेण पुरिसेण।
जीवो अविरहिदगुणो कादव्वो मोक्खमग्गम्मि॥
(मूलाचार, भाग १, गाथा ८५)

[२७] जे मे जाणंति जिणा अवराहा [1]जेसु जेसु ठाणेसु।
ते हं आलोएमी[2] उवट्ठिओ सव्वभावेणं॥
(मरणविभक्ति, गाथा १२०)
(महाप्रत्याख्यान, गाथा २०)
(आराधनापताका (१), गाथा २०७)
(आतुरप्रत्याख्यान (२), गाथा ३१)

---

१. तेसु तेसु ठा° आतुरप्रत्याख्यान॥
२. °लोएड़ं आराधनापताका॥

[२८] धन्नाणं तु कसाया जगडिज्जंता वि परकसाएहिं ।
निच्छंति समुट्ठेउं सुनिविट्ठो पंगुलो चेव ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १४१)

[२९] सामण्णमणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा होंति ।
मन्नामि उच्छुपुप्फं व निप्फलं तस्स सामण्णं ॥
[चन्द्रवेध्यक, गाथा १४२)

[३०] जं अज्जियं चरित्तं देसूणाए वि पुव्वकोडीए ।
तं पि कसाइयमेत्तो नासेइ नरो मुहुत्तेण ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १४३)

[३१] जइ उवसंतकसाओ लहइ अणंतं पुणो वि पडिवायं ।
किह सक्का वीससिउं थोवे वि कसायसेसम्मि ? ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १४५)

[३२] न वि सुज्झंति ससल्ला जह भणियं सव्वभावदंसीहिं ।
मरण-पुणब्भवरहिया आलोयण-निंदणा साहू ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १५५)

[२८] (i) जत्थ मुणीण कसाए जगडिज्जंतो वि परकसाएहिं।
निच्छंति समुट्ठेउं सुनिविट्ठो पंगुलो चेव॥
(गच्छाचार, गाथा ९७)

(ii) धन्नाणं खु कसाया जगडिज्जंता वि अन्नमन्नेहिं।
नेच्छंति समुट्ठेउं सुविणिट्ठो पंगुलो चेव॥
(तित्थोगाली, गाथा ११९८)

[२९] (i) सामण्णमणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा होंति।
मन्नामि उच्छुफुलं व निप्फलं तस्स सामन्नं॥
(दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ३०१)

(ii) सामण्णमणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा होंति।
मन्नामि उच्छुपुप्फं व निप्फलं तस्स सामाइयं॥
(तित्थोगाली, गाथा १२००)

(iii) सामण्णमणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा हुंति।
मन्नामि उच्छुपुप्फं व निप्फलं तस्स सामण्णं॥
(आराधनापताका (१), गाथा ६६६)

[३०] (i) जं अज्जियं चरित्त देसूणाए (वि) पुव्वकोडीए।
तं पि कसाइयमित्तो नासेइ नरो मुहुत्तेणं॥
(तित्थोगाली, गाथा १२०१)

(ii) जं अज्जियं चरित्तं देसूणाए य पुव्वकोडीए।
तं पि कसाइयमित्तो हारेइ नरो मुहुत्तेण॥
(आराधनापताका (१), गाथा ६६७)

[३१] (i) जइ उवसतंकसाओ, लहइ अणंतं पुणोऽवि पडिवायं।
ण हु भे वीससियव्वं, थेवे य कसायसेसंमि॥
(आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ११९)

(ii) जति उवसंतकसाओ लभति अणंतं पुणो वि पडिवातिं।
ण हु भे वीससितव्वं थोवे वि कसायसेसम्मि॥
(विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १३०६)

[३२] नहु सुज्झई ससल्लो जह भणियं सासणे धुयरयाणं।
उद्धरियसव्वसल्लो सज्झइ जीवो धुयकिलेसो॥
(ओघानिर्युक्ति, गाथा ७९८)

[३३] एगो मे सासओ अप्पा नाण-दंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १६०),

[३४] एक्को हं नत्थि मे कोई, नत्थि वा कस्सई अहं।
न तं पेक्खामि जस्साहं, न तं पेक्खामि जो महं॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १६१ (,

[३५] जह सुकुसलो वि वेज्जो अन्नस्स कहेइ अप्पणो वाहिं।
सो से करइ तिगिच्छं साहू वि तहा गुरुसगासे॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १७२);

[३३] (i) एगो मे सासओ अप्पा नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥
(ज्ञाताधर्मकथा सूत्र, पृ० ९७)
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा २७)
(आराधनापताका, गाथा ६७)
(आतुर प्रत्याख्यान (१), गाथा २९)

(ii) एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुत्तो।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥
(उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय ९, गाथा १४३)

(iii) एक्को मे सासओ अप्पा नाण-दंसणलक्खणो।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १६)

(iv) एओ मे सस्सओ अप्पा नाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥
(मूलाचार, भाग १, गाथा ४८)

(v) एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणा।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥
(नियमसार, गाथा १०२)

(vi) एगो मे सस्सदो आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥
(भावपाहुड, गाथा ५९)

[३४] एगोऽहं नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सइ।
एवमदीणमणसो अप्पाणमणुसासइ ॥
(ज्ञाताधर्मकथा सूत्र, पृष्ठ ९७)

[३५] (i) जह सुकुसलोऽवि विज्जो अन्नस्स कहेइ अप्पणो वाही।
सोऊण तस्स विज्जस्स सोवि परिकम्मारभइ ॥
(ओघनिर्युक्ति, गाथा ७९५)

(ii) जह सुकुसलो वि वेज्जो अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाहिं।
तं तह आलोयव्वं सुट्ठु वि ववहारकुसलेणं ॥
(मरणविभक्ति, गाथा १०४)

(iii) जह सुकुसलो वि वेज्जो अन्नस्स कहेदि आदुरो रोगं।
वेज्जस्स तस्स सोच्चा सो वि य पडिकम्मारभइ ॥
(भगवती आराधना, भाग १, गाथा ५३०)

इस तुलनात्मक अध्ययन में हम यह पाते हैं कि चन्द्रवेध्यक की १७५ गाथाओं में से ६ गाथाएँ आगमों में, ११ गाथाएँ निर्युक्तियों में, ३४ गाथाएँ अन्य प्रकीर्णकों में तथा ५ गाथाएँ भाष्य साहित्य में मिलती हैं। जहाँ तक शौरसेणी यापनीय आगम तुल्य साहित्य का प्रश्न है, चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक की लगभग १६ गाथाएँ मूलाचार और भगवती आराधना में भी उपलब्ध है। मूलाचार और भगवती आराधना की विषय वस्तु में निर्युक्ति साहित्य और प्रकीर्णक-साहित्य का विशेष योगदान है। आतुर-प्रत्याख्यान और आवश्यक निर्युक्ति की गाथाओं को लेकर मूलाचार के सम्पूर्ण अध्याय ही निर्मित है। इसके बृहद्प्रत्याख्यान की ७० गाथाओं में ६० गाथायें आतुरप्रत्याख्यान से और षडावश्यक की १९० गाथाओं में ६६ गाथाएँ आवश्यक निर्युक्ति से है। इस आधार पर यह दृढ़ता पूर्वक कहा जा सकता है कि प्रकीर्णक न केवल श्वेताम्बरों को अपितु उत्तर भारतीय अचेल संघ की यापनीय परम्परा को भी मान्य रहे हैं।

यापनीय साहित्य के मूलाचार और भगवती आराधना में अनेक प्रकीर्णक ग्रन्थों का समग्र रूप में आत्मसात किया जाना यही सिद्ध करता है कि यापनीय परम्परा को यह साहित्य मान्य था, किन्तु परवर्ती काल में जब प्रकीर्णक साहित्य की गाथाओं के आधार पर मूलाचार और भगवती आराधना जैसे ग्रन्थों की रचना हो गई तो उस परम्परा में प्रकीर्णकों के अध्ययन की परम्परा भी विलुप्त हो गयी।

चाहे प्रत्यक्ष रूप में हो अथवा यापनीय साहित्य मूलाचार और भगवती आराधना के माध्यम से हो, प्रकीर्णक साहित्य की अनेक गाथाएँ कुन्दकुन्द के साहित्य में भी उपलब्ध होती है। अकेले चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक की ही ४ गाथाएँ हमें कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उपलब्ध हो जाती है ऐसा लगता है कि ये गाथाएँ सीधे प्रकीर्णकों से कुन्दकुन्द साहित्य में न जाकर मूलाचार और भगवती आराधना के माध्यम से कुन्दकुन्द साहित्य में अनुस्यूत हुई हैं।

तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह प्रश्न भी स्वाभाविक रूप से खड़ा होता है कि ये समान गाथाएँ चन्द्रवेध्यक से आगम निर्युक्ति व अन्य ग्रन्थों में गई है अथवा उनमें से ये गाथाएँ चन्द्रवेध्यक में ली गई? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर दे पाना एक जटिल समस्या है। जैसा कि हम पूर्व में ही उल्लेख कर चुके हैं कि उत्तराध्ययन के २९वें अध्याय को छोड़कर शेष अध्यायों में ये गाथाएँ उसके मूल अंग के रूप में ही प्रतीत होती

है इसलिए इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि वहीं से ये गाथाएँ चन्द्रवेध्यक एवं दूसरे अन्य प्रकीर्णकों में गई हो, किन्तु उत्तराध्ययन के २९वें अध्याय तथा ज्ञाताधर्मकथा व अनुयोगद्वार में चन्द्रवेध्यक की जो गाथाएँ मिलती है, वे वहाँ अन्यत्र से उद्धृत की गई ही लगती है क्योंकि यहाँ वह ग्रन्थांश या ग्रन्थ गद्य रूप में है और ये गाथाएँ पद्य रूप में है, इस लिए इन गाथाओं को यहाँ उद्धृत मानना ही समीचीन होगा। 'गाहा' कहकर अनेक गाथायें आगमों में उद्धृत है। एक सम्भावना यह भी हो सकती है किसी अन्य प्राचीन स्त्रोत ये सभी गाथाएँ चन्द्रवेध्यक एवं अन्य आगमों में गई हों।

जहाँ तक निर्युक्ति साहित्य में उपलब्ध होने वाली चन्द्रवेध्यक की समान गाथाओं का प्रश्न है, हमें सर्वप्रथम यह निर्णय करना पड़ेगा कि निर्युक्तियों का रचनाकाल कब का है ? यदि निर्युक्तियों को द्वितीय भद्रबाहु की रचना माना जाए तब तो सम्भावना बनती है कि ये गाथाएँ प्रकीर्णक साहित्य से उनमें गई होगी। किन्तु विद्वानों ने यह माना है कि कुछ निर्युवियाँ प्राचीन है और वे प्रथम भद्रबाहु की ही रचना है ऐसी स्थिति में एक सम्भावना यह भी बन सकती है कि ये गाथाएँ निर्युक्तियों से चन्द्रवेध्यक में गई हों।

प्रकीर्णक साहित्य में कई ऐसी गाथाएँ हैं जो सामान रूप में भिन्न-भिन्न प्रकीणकों में उपलब्ध होती है। इन समान गाथाओं की प्राप्ति के आधार पर यह निर्णय कर पाना कठिन है कि कौनसी गाथा किस प्रकीर्णक से किस प्रकीर्णक में गई है। यदि हम परवर्ती प्रकीर्णकों को छोड़ कर मात्र नन्दीसूत्र में उल्लेखित प्रकीर्णकों की दृष्टि से ही विचार करें तो भी हमारे पास ऐसा कोई भी संकेत सूत्र नहीं है जिससे यह निर्णय किया जा सके कि अमुक प्रकीर्णक की अमुक गाथा अमुक प्रकीर्णक में गई है।

जहाँ तक मूलाचार व भगवती आराधना जैसे ग्रन्थों का प्रश्न है तो यह विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि उनमें ये गाथाएँ प्रकीर्णक साहित्य से ही गई है, क्योंकि मूलाचार में तो आतुरप्रत्याख्यान जैसा पुरा का पुरा प्रकीर्णक ही समाहित कर लिया गया है। कुन्दकुन्द के साहित्य में मिलने वाली समान गाथाओं के सम्बन्ध में हमारा निष्कर्ष यही है कि उसमें प्रकीर्णकों की ये गाथाएँ मूलाचार और भगवती आराधना के माध्यम से गई है।

नन्दिसूत्र में उल्लेखित आगम साहित्य की सूची के विभिन्न वर्गों में हमें जिन नौ प्रकीर्णकों के नाम मिलते हैं, वे सभी प्रकीर्णक प्राचीन स्तर के प्रतीत होते हैं। इनमें से कोई भी प्रकीर्णक ऐसा नहीं है जो तीसरी-चौथी शताब्दी के बाद की रचना हो।

प्रकीर्णक साहित्य को चाहे उसकी प्राचीनता की दृष्टि से देखा जाये, चाहे विषय वस्तु की दृष्टि से उसका आकलन किया जाए अथवा व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में उसके योगदान का मूल्यांकन किया जाये, उसकी महत्ता किसी भी प्रकार से आगम साहित्य से निम्न सिद्ध नहीं होती है। जैन समाज का यह दुर्भाग्य रहा कि आध्यात्मप्रधान इन ग्रन्थों की समाज में उपेक्षा होती रही और इन्हें द्वितीयक स्तर का माना जाता रहा।

चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक के प्रस्तुत संस्करण का मूल पाठ हमने मुनि पुण्य विजय जी द्वारा सम्पादित एवं 'श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित "पइण्णयसुत्ताइं" ग्रन्थ से लिया है। अधिकांश प्रतियों में चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक की १७५ गाथाएँ ही मिलती है और मुनि पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित इस ग्रन्थ में मूल रूप में १७५ गाथाओं का ही संकलन है, किन्तु मुनि चतुरविजय जी द्वारा तैयार की गई प्रति में १०६ गाथाएँ अतिरिक्त मिलती है जिन्हें अतिरिक्त गाथाओं के रूप में प्रस्तुत संस्करण के टिप्पणी में दिया गया है चूंकि ये अतिरिक्त गाथाएँ महा-प्रत्याख्यान, मरणविभक्ति, आतुरप्रत्याख्यान एवं संस्तारक आदि प्रकी-र्णकों में ज्यों की त्यों मिलती है और क्रमशः सभी प्रकीर्णकों का अनुवाद आगम संस्थान द्वारा करवाया हो जा रहा है, इसलिए व्यर्थ ही पुनरा-वृत्ति न हो, इस दृष्टि से इनका अनुवाद यहाँ नहीं दिया जा रहा है। अतिरिक्त गाथाओं का उल्लेख हमने ग्रन्थ में यथास्थान टिप्पणी के साथ कर दिया है।

विषय वस्तु की दृष्टि से चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक एक आध्यात्म साधना परक प्रकीर्णक है। इसमें मुख्य रूप से गुरु-शिष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का एवं शिष्यों को वैराग्य की दिशा में प्रेरित करने वाले उपदेशों का संकलन है, जो इस ग्रन्थ की आध्यात्मिक महत्ता को ही स्पष्ट करता है। अनुवाद के अभाव में आज प्रकीर्णक ग्रन्थ भले ही आगम ग्रन्थों के सम-तुल्य अपना स्थान न बना पाए हो, किन्तु जब सम्पूर्ण प्रकीर्णक साहित्य

अनुदित होकर जनसामान्य के हाथों पहुँचेगा तब जनसामान्य इनके मूल्य एवं महत्त्व को समझ पाएगा। आगम-अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर ने इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर सम्पूर्ण प्रकीर्णक साहित्य को अनुदित करवाकर प्रकाशित करने का महत्वपूर्ण कार्य हाथ में लिया है और उसी क्रम में यह तीसरा प्रकीर्णक है। संस्थान अपनी इस योजना में कितना सफल हुआ है यह निर्णय तो विद्वान् पाठकों को ही करना है।

वाराणसी
२० मई, १९९१

सागरमल जैन
सुरेश सिसोदिया

चंदावेज्झयं पइण्णयं

(चन्द्रवेध्यकप्रकीर्णक)

चंदावेज्झयं पइण्णयं

[मंगलमभिधेयं च]

जगमत्थयत्थयाणं[1] विगसियवरनाण[2]-दंसणधराणं ।
नाणुज्जोयगराणं लोगम्मि नमो जिणवराणं ॥ १ ॥

इणमो सुणह महत्थं निस्संदं मोक्खमग्गसुत्तस्स[3] ।
विगहनियत्तियचित्ता, सोऊण य मा पमाइत्था[4] ॥ २ ॥

[सत्तदारनामाइं]

विणयं १ आयरियगुणे २ सीसगुणे ३ विणयनिग्गहगुणे ४ य ।
नाणगुणे ५ चरणगुणे ६ मरणगुणे[5] ७ एत्थ वोच्छामि ॥ ३ ॥
॥ [6]दारागाहा ॥

[विणयगुणे त्ति पढमं दारं]

जो परिभवइ[7] [8]मणूसो आयरियं, जत्थ सिक्खए विज्जं ।
तस्स गहिया वि विज्जा दुःक्खेण वि, [9]अप्फला होइ ॥ ४ ॥

थद्धो विणयविहूणो न [10]लभइ कित्ति जसं च लोगम्मि ।
जो परिभवं [11]करेई गुरूण गरुयाए[12] कम्माणं ॥ ५ ॥

---

१. °यट्ठियाणं क्ष० च० कापा० के० । °यत्थियाणं कापा० ॥ २. वियसि° का० ॥ ३. मुक्ख° क्ष० च० कापा० के० ॥ ४. °इत्थ क्ष० के० ॥ ५. °गुणविहिं च वुच्छा° प्र० कापा० । °गुणे इत्थ वुच्छामि क्ष० च० कापा० के० ॥ ६. 'दारगाहा' इति सं० का० नास्ति, का० पाठान्तरे त्वस्ति ॥ ७. °भवं करेइ अ मणुसो कापा० ॥ ८. मणूस्सो क्ष० च० कापा० के० ॥ ९. निप्फला क्ष० कापा० के० ॥ १०. लहइ च० का० के० ॥ ११. करेइ के० ॥ १२. गुरुआइ क्ष० च० के० । गुरुयाए का० । गरुयाइं, गुरुयाइं, गुरूयाइं, गरुयाए इति पाठान्तरचतुष्कं का० आदर्शे ॥

चन्द्रवेध्यकप्रकीर्णक

[मंगल और अभिधेय]

(१) लोक के अग्रभाग में स्थित, विकसित श्रेष्ठ ज्ञान (केवलज्ञान) और दर्शन (केवल दर्शन) को धारण करने वाले (तथा) लोक में ज्ञान का उद्योत करने वाले जिनवरों को नमस्कार (हो)।

(२) शरीर से निवृत्त चित्त वाले (तुम लोग) मोक्ष मार्ग वाले इस सूत्र के गंभीर सार तत्त्व को सुनो और (इसे) सुनकर प्रमाद मत करना।

[सात द्वारों के नाम]

(३) (मैं) यहाँ पर विनय (गुण), आचार्य गुण, शिष्य गुण, विनय-निग्रह गुण, ज्ञान गुण, चारित्र गुण और मरण गुण का विवेचन करूँगा।

[प्रथम द्वार विनय गुण]

(४) जो मनुष्य, जिससे विद्या-प्राप्त करता है, उस आचार्य का तिरस्कार करता है, तो उसके द्वारा कठिनाई पूर्वक ग्रहण की गई (वह) विद्या निरर्थक हो जाती है।

(५) क्रूर कर्मों के द्वारा जो (शिष्य) गुरुजनों का तिरस्कार करता है, अभिमानी और विनय से रहित (वह शिष्य) लोक में कीर्ति और यश को प्राप्त नहीं करता है।

सव्वत्थ [1]लभेज्ज नरो विस्संभं [2]सच्चयं च कित्तिं च[3] ।
जो गुरुजणोवइट्ठं विज्जं विणएण गेण्हेज्ज[4] ॥ ६ ॥

अविणीयस्स पणस्सइ, जइ वि न[5] नस्सइ न[6] नज्जइ गुणेहिं ।
विज्जा सुसिक्खिया वि हु गुरुपरिभववुद्धिदोसेणं ॥ ७ ॥

विज्जा[7] मणुसरियव्वा न[8] दुव्विणीयस्स होइ दायव्वा ।
परिभवइ दुव्विणीओ तं विज्जं, तं च आयरियं ॥ ८ ॥

विज्जं परिभवमाणो आयरियाणं [9]गुणेऽपयासिंतो ।
रिसिघायगाण लोयं वच्चइ मिच्छत्तसंजुत्तो ॥ ९ ॥

विज्जा वि होइ[10] विलिया[11] गहिया पुरिसेणऽभागधेज्जेण[12] ।
सुकुलकुलवालिया[13] विव असरिसपुरिसं पइं पत्ता ॥ १० ॥

सिक्खाहि ताव विणयं, किं ते विज्जाइ[14] दुव्विणीयस्स ? ।
दुस्सिक्खिओ[15] हु विणओ, [16]सुलभा विज्जा विणीयस्स ॥ ११ ॥

विज्जं सिक्खह[17], विज्जं गुणेह, गहियं च मा पमाएह ।
गहिय-गुणिया हु विज्जा परलोयसुहावहा[18] होइ ॥ १२ ॥

---

१. लभिज्ज के० ॥ २. पच्चयं क्ष० च० का के० । सच्चयं, संथवं इति पाठभेदद्वयं का० आदर्शे ॥ ३. वा सं० का० । च इति कापा० ॥ ४. गिण्हे० का० । गिण्हिज्जा क्ष० च० के० ॥ ५. न भस्सइ न जुज्जइ गु० क्ष० च० के० ॥ ६. न जुज्जइ गु० पु० का० । न नज्जइ कापा० ॥ ७. ०ज्जा अणुस० पु० च० का० । ०ज्जा मणुस० कापा० ॥ ८. न हु अविणी० कापा० । न दुविणी कापा० । न हु दुव्विणी० सं० क्ष० च० पु० कापा० ॥ न हु दुव्विणिय कापा० ॥ ९. गुणे पणासितो पु० च० । गुणे पणासेंतो का०, गुणे पणासंतो कापा० । गुणे पगासंतो । रिसिनायगाण लोअं वच्चइ सम्मत्तसंजुत्तो कापा० ॥ १०. ०इ वलिया गहिया पुरिसेण भाग० सं० विना ॥ ११. विलियाव्रोडिता ॥ १२. ०गविज्जे० क्ष० च० के० ॥ १३. ०या इव कापा० ॥ १४. विज्जाए का० । विज्जाहिं कापा० । विज्जाइ ते दु० कापा० ॥ १५. ०क्खओ; ०क्खेओ इति पाठान्तरे का० ॥ १६. सुलहा क्ष० कापा० के० ॥ १७. सिक्खेह कापा० ॥ १८. ०लोए सु० कापा० ॥

(६) जो मनुष्य गुरुजनों द्वारा उपदिष्ट विद्या को विनय पूर्वक ग्रहण करता है (वह शिष्य) सर्वत्र विश्वास, प्रामाणिकता और कीर्ति को प्राप्त करता है।

(७) गुरु को तिरस्कृत करने की दूषित बुद्धि के कारण अच्छी तरह से सीखी हुई अविनीत की विद्या भी निश्चय ही नष्ट हो जाती है। यदि (वह) नष्ट नहीं भी होती है (तो भी) बुद्धि-दोष के कारण सार्थक नहीं होती है।

(८) विद्या अनुसरण (परिपालन) करने के लिए होती है, दुर्विनीत को देने के लिए नहीं होती है, (क्योंकि) दुर्विनीत उस विद्या को और उसके प्रदाता आचार्य को तिरस्कृत करता है।

(९) विद्या का तिरस्कार करता हुआ और आचार्यो के गुणों को अप्रकाशित (अमान्य) करता हुआ, (जो व्यक्ति) मिथ्यात्व से युक्त हो, लोक (अर्थात् सांसारिक भोगों) की इच्छा करता है, (उसे) ऋषि-घातक जानो।

(१०) अयोग्य पुरुष द्वारा ग्रहीत विद्या ऐसे लज्जित होती है, मानो उत्तम कुल की कुल बालिका ने असमान (हीन) पुरुष को पति (के रूप में) प्राप्त किया हो।

(११) (तुम सब) विनय को सीखो, दुर्विनीत की विद्या से तुम्हें क्या (लाभ) ? विनय (गुण) प्राप्त करना दुष्कर है, विनीत के लिए विद्या सुलभ होती है।

(१२) (तुम सब) विद्या को सीखो, विद्या का चिन्तन करो और ग्रहण की हुई (विद्या) में प्रमाद मत करो। ग्रहण की हुई तथा मनन की हुई विद्या निश्चय ही परलोक में सुखप्रद होती है।

विणएण सिक्खियाणं विज्जाणं [1]परिसमत्तसुत्ताणं ।
सक्का [2]फलमणुभुत्तुं गुरुजणतुट्ठोवइट्ठाणं ॥ १३ ॥

[3]दुल्लहया आयरिया विज्जाणं दायगा समत्ताणं ।
ववगयचउक्कसाया [4]दुल्लहया सिक्खगा सीसा ॥ १४ ॥

पव्वइयस्स गिहिस्स व[5] विणयं चेव कुसला पसंसंति ।
न हु पावइ अविणीओ कित्तिं च जसं च लोगम्मि ॥ १५ ॥

[6]जाणंता वि य विणयं केई[7] कम्माणुभावदोसेणं ।
[8]नेच्छंति [9]पउंजित्ता अभिभूया राग-दोसेहिं ॥ १६ ॥

अभणंतस्स वि[10] कस्स वि [11]पइरइ कित्ती जसो[12] य लोगम्मि[13] ।
पुरिसस्स महिलियाए विणीयविणयस्स दंतस्स ॥ १७ ॥

[14]देंति फलं विज्जाओ पुरिसाणं [15]भागधेज्जपरियाणं[16] ।
न हु [17]भागधेज्जपरिवज्जियस्स विज्जा फलं देंति[18] ॥ १८ ॥

[19]विज्जं परिभवमाणो आयरियाणं [20]गुणेऽपयासिंतो ।
रिसिघायगाण लोयं वच्चइ मिच्छत्तसंजुत्तो ॥ १९ ॥

न हु सुलहा आयरिया विज्जाणं दायगा समत्ताणं[21] ।
[22]उज्जुय अपरित्तंता न हु सुलहा सिक्खगा सीसा ॥ २० ॥

---

१. °समित्त° कापा० ॥ २. °मणुहुंतुं च० ॥ ३. दुल्लभया क्ष० कापा० के० ॥ ४. दुल्लहिया का० । दुल्लहगा क्ष० कापा० के० । दुल्लहया कापा० । दुल्लहा सि° कापा० ॥ ५. वा० क्ष० के० ॥ ६. जाणंतो कापा० ॥ ७. केइ के० ॥ ८. निच्छंति के० ॥ ९. पउंजेउं च० कापा० ॥ १०. य क्ष० कापा० के० ॥ ११. पयरइ च० । पसरइ क्ष० पु० का० के० ॥ १२. जसं कापा० के० ॥ १३. लोगमज्झम्मि प्र० कापा० । लोयम्मि कापा० । १४. दिंति क्ष० च० के० ॥ १५. भागधिज्ज° सं० क्ष० के० ॥ १६. ज्जभरि° सं० विना० ॥ १७. भागधिज्ज० सं० क्ष० के० ॥ १८. दिंति च० क्ष० के० । देंति का० ॥ १९. नवमगाथासदृशीयं गाथा जे० च० आदर्शयोर्नोपलभ्यते ॥ २०. गुणे पणासेंतो जे० पु० का० क्ष० । गुणे पणासंतो के० ॥ २१. °त्ताणं । अज्झयण-अपरितंता च० ॥ २२. अज्जूअ अप्परितंता कापा० ॥

(१३) गुरुजनों के उपदेश से सन्तुष्ट (शिष्य) विनयपूर्वक सीखी हुई विद्याओं के द्वारा समस्त सूत्रों के प्रयोजन को (समझने में) समर्थ होते हैं।

(१४) सम्पूर्ण विद्याओं के प्रदाता आचार्य दुर्लभ होते हैं (तथा) चारों कषायों से रहित शिक्षक एवं शिष्य भी दुर्लभ होते हैं।

(१५) प्रव्रजित और गृहस्थ के विनय की कुशल जन अवश्य ही प्रशंसा करते हैं किन्तु अविनीत लोक में कीर्ति और यश को कभी भी प्राप्त नहीं करता है।

(१६) कर्मों के प्रभाव रूपी दोष के कारण राग और द्वेष से ग्रसित कुछ लोग विनय को जानते हुए भी उसमें प्रवृत्ति करना नहीं चाहते हैं।

(१७) जितेन्द्रिय तथा विनय-गुण से युक्त विनीत पुरुष अथवा महिला की कीर्ति और यश बिना किसी के कहे हुए भी लोक में फैलता है।

(१८) भाग्य जिनका संरक्षक है, (ऐसे) पुरुषों के लिए विद्या फलवती होती है; किन्तु भाग्य जिनका संरक्षक नहीं है, (ऐसे पुरुषों) के लिए विद्या फलवती नहीं होती है।

(१९) विद्या का तिरस्कार करता हुआ और आचार्यों के गुणों को अप्रकाशित (अमान्य) करता हुआ, (जो व्यक्ति) मिथ्यात्व से युक्त हो, लोक (अर्थात् सांसारिक भोगों) की इच्छा करता है उसे ऋषिघातक जानो।

(२०) सम्पूर्ण विद्याओं के प्रदाता आचार्य निश्चय ही सुलभ नहीं हैं तथा खेद-रहित सरलचित्त शिक्षक एवं शिष्य भी सुलभ नहीं हैं।

विणयस्स गुणविसेसा एए[1] मए वण्णिया समासेणं । दारं[2] १ ।
आयरियाणं च गुणे[3] एगमणा[4] मे निसामेह ॥ २१ ॥

[आयरियगुणे त्ति बीयं दारं]

वोच्छं[5] आयरियगुणे अणेगगुणसयसहस्सधारीणं[6] ।
ववहारदेसगाणं सुयरयणसुसत्थवाहाणं ॥ २२ ॥

पुढवी विव सव्वसहं १ मेरु व्व अकंपिरं २ ठियं[7] धम्मे ३ ।
[8]चंदं व सोमलेसं[9] ४ तं आयरियं पसंसंति ॥ २३ ॥

[10]अपरिस्साविं[11] ५ आलोयणारिहं ६ हेउ-कारणविहन्नु[12] ७-८ ।
गंभीरं ९ दुद्धरिसं १० तं आयरियं पसंसंति ॥ २४ ॥

[13]कालन्नू ११ देसन्नू १२ समयन्नू १३ अतुरियं[14] १४ असंभंतं १५।
[15]अणुवत्तयं १६ [16]अमायं १७ तं आयरियं पसंसंति ॥ २५ ॥

लोइय-वेइय[17]-सामाइएसु सत्थेसु जस्स वक्खेवो[18] १८-१९-२० ।
ससमय-परसमयविऊ[19] २१-२२ तं[20] आयरियं पसंसंति ॥ २६ ॥

बारसहिं[21] वि अंगेहिं सामाइयमाइपुव्वनिव्वद्धे[22] ।
[23]लद्धट्ठं गहियट्ठं २३-२४ तं आयरियं पसंसंति ॥ २७ ॥

---

१. एवं मए क्ष० कापा० के० ॥ २. 'दारं १' इति सं० क्ष० का० आदर्शेषु नास्ति ॥ ३. गुणे एगग्गमणा निसा० प्र० का० । गुणे णेगमणा कापा०, मूलस्थः पाठोऽपि का० आदर्शे पाठान्तरत्वेनादृतः ॥ ४. ०णा मे नि० क्ष० कापा० ॥ ५. वुच्छं क्ष० च० के० ॥ ६. ०स्सधरियाणं प्र० कापा० ॥ ७. ठिअं च० ॥ ८. चंदो व्व का० । चंदु व्व क्ष० पु० कापा० के० । मूलस्थः पाठोऽपि का० आदर्शे पाठान्तरत्वेनादृतः ॥ ९. सोमसत्तं तं कापा० ॥ १० अप्परिसावि सं० कापा० ॥ ११. ०स्सावी च० ॥ १२. ०विहिण्णु क्ष० च० का० के० । ०विहण्णुं कापा० १३. कालण्णुं देसण्णुं भावण्णुं अतु० क्ष० के० । कालण्णू देसण्णू भावण्णू अतु० च० का० ॥ १४. अतुरियं अचवलं असं० कापा० ॥ १५. अणुयत्त० प्र० कापा० ॥ १६. अमायं आयरियं तं प० सं० च० ॥ १७. ०सामइ० का० । ०सामाइ० कापा० ॥ १८. विक्खेवो का० । वक्खेवो कापा० ॥ १९. ०यम्मि य तं कापा० । ०यविऊणं आ० कापा० ॥ २०. त्तं कापा० ॥ २१. ०सहिं कापा० ॥ २२. ०बद्धं कापा० ॥ २३. लद्धत्थं गहियत्थं का० ॥

(२१) (इस प्रकार) विनय के ये गुण विशेष मेरे द्वारा संक्षेप में वर्णित किये गये हैं (अब) मुझसे आचार्यों के गुणों को एकाग्रचित्त होकर सुनो।

[द्वितीय द्वार आचार्य गुण]

(२२) (अब मैं) अनेक लाख गुणों को धारण करने वाले, आचार-मार्ग के उपदेशक (एवं) श्रुत-रत्न रूपी सद्-शास्त्रों को धारण करने वाले आचार्यों के गुणों को कहूँगा।

(२३) पृथ्वी की तरह सब सहन करने वाले, पर्वत की तरह अकम्पित, धर्म में स्थित, चन्द्रमा की तरह सौम्यकांति युक्त उन आचार्यों की (सभी) प्रशंसा करते हैं।

(२४) समुद्र के समान गंभीर, आलोचनार्ह[१], हेतु और कारण के ज्ञाता, गंभीर, दुर्जेय उन आचार्यों की (सभी) प्रशंसा करते है।

(२५) कालज्ञ[२], देशज्ञ[३], समयज्ञ[४], अत्वरित[५], असम्भ्रान्त[६], अनुवर्तक[७] और अमायावी[८] उन आचार्यों की (सभी) प्रशंसा करते है।

(२६) लौकिक[९], वैदिक[१०] एवं सामायिक[११] (आदि) शास्त्रों में जिनकी गति (विशेषज्ञता) हो, उन स्वसमय[१२] और परसमय[१३] के जानकार आचार्यों की (सभी) प्रशंसा करते हैं।

(२७) सामायिक (आचारांग) से प्रारम्भ करके पूर्व निबद्ध, दृष्टिवाद तक बारह अंगों को जाननेवाले तथा मोक्षमार्ग को स्वीकार करने वाले उन आचार्यों की (सभी) प्रशंसा करते हैं।

---

१. आलोचनार्ह शब्द का अर्थ है—जिनके समक्ष अपने दोषों को प्रकट किया जा सके।

२. समय के जानकार ३. देश की स्थिति के जानकार ४. सिद्धान्त के जानकार ५. शान्तिप्रिय ६. भ्रम रहित ७. अनुकूल वर्ताव करनेवाला ८. माया रहित

९. लोकप्रसिद्ध १०. वेदों के जानकार ११. आचारांगादि सूत्र १२. जैन दर्शन १३. जैन दर्शन के अलावा अन्य दर्शन

आयरियसहस्साइं लहइ य [1]जीवो [2]भवेहिं वहुएहिं ।
कम्मेसु य सिप्पेसु य अन्नेसु य[3] धम्मचरणेसु ॥२८॥

जे पुण जिणोवइट्ठे निग्गंथे पवयणम्मि आयरिया ।
संसार-मोक्खमग्गस्स[4] देसगा[5] [6]तेऽत्थ आयरिया २५–२६॥२९॥

जह दीवा दीवसयं [7]पइप्पए सो य[8] दिप्पए[9] दीवो ।
दीवसमा आयरिया[10] दिप्पंति, परं च [11]दीवेंति ॥३०॥

धन्ना आयरियाणं निच्चं आइच्च-चंदभूयाणं[12] ।
संसारमहण्णवतारयाण पाए पणिवयंति ३० ॥ ३१ ॥

इहलोइयं च किंत्ति [13]लभंति आयरियभत्तिराएणं ३१ ।
देवगइं सुविसुद्धं ३२ धम्मे य अणुत्तरं बोहिं ३३ ॥३२॥

देवा वि देवलोए निच्चं दिव्वोहिणा वियाणित्ता[14] ।
आयरियाण सरंता आसण-सयणाणि[15] [16]मुच्चंति ३४ ॥३३॥

देवा वि देवलोए निग्गंथं पवयणं अणुसरंता ।
अच्छरगणमज्झगया आयरिए [17]वंदया [18]एंति ३५ ॥३४॥

छट्ठ-ऽट्ठम-दसम-दुवालसेहिं[19] भत्तेहिं [20]उववसंता वि ।
[21]अकरेंता गुरुवयणं ते [22]होंति अणंतसंसारी ३६ ॥३५॥

---

१. जीवे क्ष० कापा० के ॥ २. भवेहि का० । भवेहिं णेगेहिं प्र० कापा० ॥ ३. ल कापा० ॥ ४. °मुक्ख° क्ष० के० ॥ ५. देसया कापा० ॥ ६. ते हु आ° सं० विना० । तेऽत्थ कापा० ॥ ७. पदिप्प° का० । पदिप्पई तथा पइप्पए कापा० ॥ ८. उ क्ष० कापा० के० । अ कापा० ॥ ९. दिप्पई का० । दिप्पए कापा० ॥ १०. °या अप्पं च परं च सं० विना० ॥ ११. दीवंति क्ष० कापा० के० । दिप्पंति कापा० ॥ १२. °दसूराणं सं०, असाधुरयं पाठः ॥ १३. लहंति च० कापा० । लहइ य आ° क्ष० कापा० के० । लहेई कापा० ॥ १४. वियाणिता कापा० ॥ १५. °णाइं क्ष० कापा० के० ॥ १६. मुंचंति क्ष० का० के० । मुच्चंति कापा० ॥ १७. वंदिया कापा० ॥ १८. इंति क्ष० च० कापा० के । हुंति कापा० ॥ १९. °लसेहिं मासद्धमासखमणेहि भत्ते° कापा० ॥ २०. उववसिंता कापा० ॥ २१. अकरिंता क्ष० च० कापा० । अकरंता कापा० ॥ २२. हुंति क्ष० च० के० ।

(२८) जीव अनेक जन्मों में (विविध) कार्यों, शिल्पों एवं अन्य (कलाओं) तथा धर्माचरण में (निपुण) बहुत से आचार्यों को प्राप्त करता है।

(२९) जो जिन उपदिष्ट निर्ग्रन्थ प्रवचन के अनुसार संसार-मुक्ति मार्ग के उपदेशक हैं, वे आचार्य ही वस्तुतः यहाँ आचार्य (कहे गये) हैं।

(३०) जैसे एक दीपक से सैकड़ों दीपक जलते हैं और वह दीपक (स्वयं) भी प्रकाशवान् रहता है, (वैसे ही) दीपक के समान आचार्य (स्वयं) प्रकाशित होते हैं तथा दूसरों को भी प्रकाशित करते हैं।

(३१) संसार महासागर से पार उतारने वाले, चन्द्र और सूर्यो के समान (प्रकाशवान् आचार्य) धन्य हैं। (उन) आचार्यो के चरण में (हम सब) नित्य प्रणाम करते हैं।

(३२) आचार्यों के भक्ति-राग से (जीव) इस लोक में कीर्ति, (परलोक में) अत्यन्त विशुद्ध देवयोनि और धर्म में सर्वश्रेष्ठ बोधि को प्राप्त करते हैं।

(३३) देवलोक में (स्थित) देवता भी नित्य दिव्य अवधिज्ञान से आचार्यों को जानते हुए (और उनका) स्मरण करते हुए (उनके वंदन हेतु) आसन और शय्याओं को त्याग देते हैं।

(३४) देवलोक में (स्थित) देवता भी निर्ग्रन्थ प्रवचन का अनुस्मरण करते हुए अप्सरा समूह के साथ आचार्यों की वंदना करने के लिए (मध्य लोक में) आते हैं।

(३५) लगातार दो दिन, तीन दिन, चार दिन, पाँच दिन और सात दिन के उपवास (करते हुए) भी (जो) गुरु के वचन का (पालन) नहीं करते, वे अनंतसंसारी होते हैं।

एए अन्ने य बहू आयरियाणं गुणा अपरिमेज्जा[1] । दारं[2] २ ।
सीसाण गुणविसेसे केइ[3] समासेण वोच्छामि[4] ॥३६॥

[सीसगुणे त्ति तइयं दारं]

[5]नीयावित्ति विणीयं [6]ममत्तमं गुणवियाणयं [7]सुयणं ।
आयरियमइवियाणिं[8] सीसं कुसला पसंसंति ॥३७॥

सीयसहं उण्हसहं [9]वायसहं खुह-पिवास-अरइसहं ।
पुढवी विव सव्वसहं सीसं कुसला पसंसंति ॥३८॥

लाभेसु अलाभेसु य अविवन्नो[10] जस्स होइ मुहवण्णो ।
अप्पिच्छं संतुट्ठं सीसं कुसला पसंसंति ॥३९॥

[11]छव्विहविणयविहन्नू[12] [13]अज्जविओ सो हु वुच्चइ विणीओ ।
इड्ढीगारवरहियं सीसं कुसला पसंसंति ॥४०॥

दसविहवेयावच्चम्मि [14]उज्जुयं [15]उज्जयं च सज्झाए ।
[16]सव्वावासगजुत्तं सीसं कुसला पसंसंति ॥४१॥

आयरियवण्णवाइं[17] गणसेविं कित्तिवद्धणं धीरं ।
धीधणियबद्धकच्छं सीसं कुसला पसंसंति ॥४२॥

हंतूण सव्वमाणं सीसो होऊण[18] ताव सिक्खाहि ।
सीसस्स होंति सीसा, न [19]होंति सीसा असीसस्स ॥४३॥

---

१. °मिज्जा के० ॥ २. 'दारं २' सं० क्ष० का० आदर्शेषु नास्ति ॥ ३. केवि क्ष० के० ॥ ४. वुच्छामि क्ष० च० के० ॥ ५. नीयं वित्ति कापा० ॥ ६. समत्तामं का० । अमत्तायं, अमत्ताकं तथा ममत्तामं कापा० । अमत्तायं के० ॥ ७. सुअणं च० ॥ ८. °याणिं कुसला सीसं प° अ० का० विना ॥ ९. वायाऽऽयव-खु-प्पिवास° च० ॥ १०. °न्नो होइ जस्स मु° क्ष० के० ॥ ११. °हजीव-विहिण्णुं कापा० ॥ १२. °विहिण्णू च० क्ष० का० के० ॥ १३. अज्झइओ क्ष० कापा० के० ॥ १४. उज्जयं कापा० ॥ १५. उन्नयं कापा० ॥ १६. सव्वावस्सग° क्ष० कापा० के० ॥ १७. °वायं गणिसे° कापा० ॥ १८. °ण सव्वसिक्खाहिं । सी° कापा० ॥ १९. हुंति सं० क्ष० के० ॥

(३६) ये और अन्य बहुत प्रकार के अपरिमित गुण आचार्यों के हैं, (अब मैं) शिष्यों के कुछ विशेष गुणों को संक्षेप में कहता हूँ।

[तृतीय द्वार शिष्य गुण]

(३७) भिक्षाजीवी, विनीत, (सभी को) प्रिय, सज्जन, गुणों को जानने वाले (तथा) आचार्य की मनोभावना के जानकार शिष्य की कुशल जन प्रशंसा करते हैं।

(३८) पृथ्वी की तरह सर्दी, गर्मी, वायु, भूख, प्यास, अरति (प्रतिकूलता) आदि सभी कुछ सहन करने वाले शिष्य की कुशल जन प्रशंसा करते हैं।

(३९) लाभ और अलाभ में जो अविचलित (अविवर्ण) रहता हो, उसकी प्रशंसा होती है। अल्प इच्छा में सन्तुष्ट शिष्य की कुशल जन प्रशंसा करते हैं।

(४०) (जो) छः प्रकार के (जीव-निकायों के) संयम का ज्ञाता और सरलचित्त है, वह निश्चय ही विनीत कहा जाता है। ऋद्धि के गर्व से रहित शिष्य की कुशल जन प्रशंसा करते हैं।

(४१) दस प्रकार की सेवा-शुश्रुषा में सहज और स्वाध्याय हेतु तत्पर तथा समस्त उपासक गुणों से युक्त शिष्य की कुशल जन प्रशंसा करते हैं।

(४२) आचार्य की प्रशंसा करने वाले, संघ की सेवा करने वाले, कीर्ति बढ़ाने वाले, धैर्यवान्, बुद्धि के स्वामी और (सदैव) तत्पर रहने वाले शिष्य की कुशल जन प्रशंसा करते हैं।

(४३) समस्त अहंकार को नष्ट करके (जो) शिष्य शिक्षासे (शिक्षित) होता है, निस्सन्देह (उस) शिष्य के (बहुत से) शिष्य होते हैं। अशिष्य (अर्थात् कुशिष्य) के (कोई भी) शिष्य नहीं होते हैं।

वयणाइं सुकडुयाइं [1]पणयनिसिट्ठाइं[2] [3]विसहियव्वाइं ।
सीसेणाऽऽयरियाणं [4]नीसेसं मग्गमाणेणं ॥४४॥

जाइ-कुल-रूव-जोव्वण[5]-बल-विरिय-समत्तसत्तसंपन्नं[6] ।
[7]मिउ-महुवाइमपिसुणमसढमथद्धं[8] अलोभं च ॥४५॥

पडिपुण्णपाणि-पायं अणुलोमं निद्ध-उवचियसरीरं ।
गंभीर-तुंगनासं उदारदिट्ठिं विसालच्छं[9] ॥४६॥

जिणसासणमणुरत्तं [10]गुरुजणमुहपिच्छिरं च धीरं च ।
[11]सद्धागुणपरिपुण्णं [12]विकारविरयं विणयमूलं ॥४७॥

[13]कालन्नू देसन्नू समयन्नू सील-रूव-विणयन्नू[14] ।
लोह-भय-मोहरहियं जियनिद्द-परीसहं चेव ॥४८॥

जइ वि [15]सुयनाणकुसलो होइ नरो हेउ-कारणविहन्नू ।[16]
अविणीयं गारवियं न तं [17]सुयहरा पसंसंति ॥४९॥

[[18]रागरहियं अकंपममच्छरियमकिंचणं निउणवुद्धिं ।
[19]अचवलमवंचणमइं जिणपावयणम्मि य पगब्भं ॥ १ ॥]

सीसं सुइमणुरत्तं निच्चं विणओवयारसंपन्नं[20] ।
[21]वाएज्ज व गुणजुत्तं पवयणसोहाकरं[22] धीरं ॥५०॥

---

१. °पणइनि° कापा० ॥ २. °निसट्ठाइं जे० पु० कापा० । °निसिद्धाइं क्ष० कापा० पणयसिद्धाइं के० ॥ ३. °सहिणव्वा° कापा० ॥ ४. नीसेसं-निःश्रेयसम् । निस्सेसं कापा० ॥ ५. °जुव्वण° क्ष० च० के० ॥ ६. °संजुत्तं क्ष० च० कापा० के० । संपन्ने कापा० ॥ ७. °उ-सद्द° क्ष० कापा० के० । °उ-सच्चवा° च० ॥ ८. °मयड्ढं च० ॥ ९. °लच्छि कापा० ॥ १०. °मुहपेच्छगं च जे० विना । °पिच्छगं के० ॥ ११. °पडिपु° कापा० के० ॥ १२. वियार° का० ॥ १३. कालन्नु देसन्नु समयन्नु क्ष० के० ॥ १४. °यन्नुं क्ष० के० ॥ १५. सुअना° च० ॥ १६. °विहिण्णू सं० विना० । विहण्णू कापा० ॥ १७. °यधरा च० ॥ १८. गाथेयं पु० च० आदर्शयोरेवोपलभ्यते । अन्यान्यप्राचीनतमादर्शेष्वनुपलम्भादस्या गाथायाः प्रक्षिप्तत्वं सम्भाव्यते ॥ १९. °मचंचलमइं च० ॥ २०. °संपुण्णं का० । °संजुत्तं क्ष० कापा० के० ॥ २१. वाइज्ज च० । वायज्ज क्ष० कापा० के० ॥ २२. °सोभाक° च० ॥

(४४) (जिस प्रकार पत्नी के लिए) पति के अत्यधिक कठोर वचन भी सहनीय है, (उसी प्रकार) कल्याण मार्ग को खोजते हुए शिष्यों के लिए आचार्यों के (कठोर वचन भी सहनीय हैं)

(४५-४९) जाति, कुल, रूप, यौवन, बल, वीर्य और समस्त पराक्रम से सम्पन्न, मृदुता, मार्दव, अपिशुनता, अशठता, निराभिमानिता और अलोभ आदि (गुणों से युक्त), सुडौल हाथ पैर वाला, आकर्षक एवं स्निग्ध शरीरवाला, गम्भीर और उन्नत नासिका वाला, उदार दृष्टि वाला और विशाल नेत्र वाला, जिनशासन में निष्ठावान्, गुरुजनों के मुख को देखने वाला, (अर्थात् उनकी आज्ञानुसार कार्य करने वाला), धैर्यवान्, श्रद्धा-गुण से परिपूर्ण, विकार रहित, विनय सम्पन्न, कालज्ञ, देशज्ञ, समयज्ञ, शील-स्वरूप तथा विनय (आचार-नियम) का जान-कार, लोभ, भय और मोह से रहित, निद्रा और परीषह को जीतने वाला, श्रुतज्ञान में कुशल, हेतु और कारण का जानकार मनुष्य भी यदि अभिमानी और अविनीत होता है, (तो) श्रुतधर (अर्थात् आगमज्ञ) उसकी प्रशंसा नहीं करते हैं।

(राग रहित, क्षोभ रहित, अभिमान रहित, निष्परिग्रही, निपुण बुद्धि वाला, अचपल और अवञ्चक मति वाला (अर्थात् कपट रहित बुद्धि वाला) शिष्य ही जिनेन्द्र देवों के प्रवचनों को धारण करने में समर्थ होता है।[1])

(५०) श्रुतज्ञान में अनुरक्त, नित्य विनय-उपचार से सम्पन्न तथा (सद्) गुणों से युक्त एवं प्रवचन की शोभा करने वाले धैर्यवान् शिष्य को ही वाचना दी जाये।

---

१. पु० एवं च० प्रति में यह गाथा है, लेकिन मुनि पुण्यविजय जी ने इसे मूल-गाथा नहीं माना है, इसलिए हम भी इसे मूल गाथा नहीं मानते हुए इसका गाथा-क्रमांक नहीं दे रहे हैं।

[1]एत्तो जो परिहीणो गुणेहिं गुणसयनओववेएहिं[2] ।
पुत्तं पि न वाएज्जा, किं पुण सीसं गुणविहूणं[3] ? ॥५१॥

एसा सीसपरिक्खा कहिया [4]निउणेत्थ सत्थउवइट्ठा ।
सीसो परिक्खियव्वो पारत्तं मग्गमाणेणं ॥५२॥

सीसाणं गुणकित्ती एसा मे वण्णिया समासेणं । [5]दारं ३ ।
विणयस्स निग्गहगुणे ओहियहियया निसामेह ॥५३॥

(विणयनिग्गहगुणे त्ति चउत्थं दारं)

विणओ [6]मोक्खद्दारं विणयं मा[7] हू कयाइ [8]छड्डेज्जा ।
अप्पसुओ वि हु पुरिसो विणएण खवेइ कम्माइं ॥५४॥

जो अविणीयं विणएण जिणइ, सीलेण जिणइ निस्सीलं ।
सो जिणइ तिण्णि लोए, पावमपावेण[9] सो जिणइ ॥५५॥

जइ वि सुयनाणकुसलो होइ नरो हेउ-कारणविहन्नू[10] ।
अविणीयं गारवियं न तं [11]सुयहरा पसंसंति ॥५६॥[12]

---

१. इत्तो क्ष० च० के० ॥ २. °नयोव° क्ष० के० ॥ ३. °विहीणं सं० विना ॥ ४. निउणित्थ जे० । निउणऽत्थ क्ष० च० का० के० । निउणं च० कापा० ॥ ५. 'दारं ३' इति सं० क्ष० का० आदर्शेषु नास्ति ॥ ६. मुक्ख° क्ष० च० के० । मोक्खदुवारं का० । मुक्खदुवारं तथा मुक्खद्दारं कापा० ॥ ७. मा हु क्कयाइ पु० च० कापा० । मा हु कयावि क्ष० का० के० । मा हु कयाइ कापा० ॥ ८. छड्डिज्जा क्ष० च० के० ॥ ९. °ण जो जि° कापा० ॥ १०. विहिण्णू क्ष० च० का० के० । °विहण्णू कापा० ॥ ११. सुअधरा च० । सुयधरा जे० ॥ १२. एकोनपञ्चाशत्तमीगाथासदृशीयं गाथा सर्वेष्वप्यादर्शेषूपलभ्यते । एतद्गाथाऽनन्तरं च० आदर्शे एका अधिका गाथोपलभ्यते, सा चेयम्—

"चरणगुणजोगजुत्तं तव नाणे दंसणे चरित्ते य ।
अप्पसुयं पि हु कुसला बहुस्सुयपयम्मि ठावेंति ॥ १ ॥

(५१) जो इन गुणों से रहित है (फिर भले ही वह) सैकड़ों दूसरे गुणों से युक्त ही क्यों न हों, (ऐसे) पुत्र को भी वाचना न दी जाए, फिर गुण-विहीण शिष्य को तो क्या ? (अर्थात् उसे तो वाचना दी ही नहीं जा सकती।)

(५२) यहाँ पर यह शास्त्रों में उपदिष्ट निपुण शिष्य की परीक्षा (विधि (कही गई है। मोक्ष मार्ग की यात्रा करने वाले शिष्य की तो परीक्षा (इस अनुसार) की ही जानी चाहिए।

(५३) शिष्यों के गुणों की यह कीर्ति मेरे द्वारा संक्षेप में वर्णित की गयी है। (अब) विनय-निग्रह गुणों को शान्त हृदय से सुनो।

(चतुर्थ द्वार विनय-निग्रह गुण)

(५४) विनय मोक्ष का द्वार है। (इसलिए) कभी भी विनय को नहीं छोड़ें। निश्चय ही शास्त्रों को थोड़ा जानने वाला पुरुष भी विनय से कर्मों का क्षय करता है।

(५५) जो अविनीत को विनय से जीतता है, दुःशील को शील से जीतता है और पाप को पुण्य से जीतता है, वह तीनों लोकों में विजय प्राप्त करता है।

(५६) श्रुतज्ञान में कुशल, हेतु और कारण का जानकार मनुष्य भी यदि अभिमानी और अविनीत होता है, (तो) श्रुतधर (अर्थात् आगमज्ञ) उसकी प्रशंसा नहीं करते हैं।

सुबहुस्सुयं पि[1] पुरिसं पुरिसा[2] अप्पस्सुयं[3] ति [4]ठावेंति ।
गुणहीणं विणयहीणं चरित्तजोगेण[5] पासत्थं ॥५७॥

तव-नियम-सीलकलियं, उज्जुत्तं नाण-दंसण-चरित्ते ।
[6]अप्पस्सुयं पि पुरिसं बहुस्सुयपयम्मि [7]ठावेंति ॥५८॥

सम्मत्तम्मि य नाणं आयत्तं, दंसणं चरित्तम्मि ।
[8]खंतिबलाओ य[9] तवो, नियमविसेसो य विणयाओ ॥५९॥

सव्वे य[10] तवविसेसा नियमविसेसा य गुणविसेसा य ।
नत्थि हु विणओ जेसिं [11]मोक्खफलं[12] निरत्थयं तेसिं ॥६०॥

[13]पुव्विं पलविओ जिणवरेहिं[14] विणओ अणंतनाणीहिं ।
सव्वासु कम्मभूमिसु निच्चं चिय [11]मोक्खमग्गम्मि ॥६१॥

जो विणओ तं नाणं, जं नाणं सो उ[15] वुच्चई विणओ ।
विणएण लहइ नाणं, नाणेण[16] विजाणई विणयं ॥६२॥

सव्वो चरित्तसारो विणयम्मि पइट्ठिओ मणूसाणं[17] ।
न हु विणयविप्पहीणं निग्गंथरिसिं पसंसंति ॥६३॥

[18]सुबहुस्सुओ वि जो खलु अविणीओ मंदसद्ध-संवेगो ।
नाराहेइ चरित्तं, चरित्तभट्ठो भमइ जीवो ॥६४॥

---

१. ति काना० ॥ २. कुपला के० ॥ ३. °स्सुयम्मि ठा° अ० काना० के० ॥ ४. ठावेंति अ० का० पा०के० । ठाविंति काना० ॥ ५. °जोगेहिं अ० काना० के० । °जोगेहि काना० ॥ ६. अप्पसुयं पि हु पु° पु० अ० च० काना० के० ॥ ७. ठावेंति जे० अ० काना० के० । ठाविंति काना० ॥ ८. °बलाउ के० ॥ ९. उ च० ॥ १०. वि का० । य काना० ॥ ११. मुक्ख° अ० च० के० ॥ १२. °फला का० । °फलं काना० ॥ १३. पुव्वं अ० काना० के० ॥ १४. °वरेहि का० ॥ १५. हु अ० का० के० । उ काना० । अ च० ॥ १६. °ण य ना° काना० । °ण वि याणई काना० । °ण वि जाणइ के० ॥ १७. मणस्साणं अ० च० के० ॥ १८. सु बहु° काना० ॥

(५७) गुण हीण, विनय हीण (और) चारित्र-योग से भ्रष्ट ऐसे सुवहुश्रुत पुरुष को अल्पश्रुत पुरुष भी (साधना मार्ग में) स्थापित करते हैं।

(५८) तप, नियम और शील सहित ज्ञान, दर्शन और चारित्र में प्रयत्न-शील अल्पश्रुत व्यक्ति (स्वयं) को वहुश्रुत पद पर स्थापित करते हैं।

(५९) ज्ञान सम्यक्त्व में, दर्शन चारित्र में, तप क्षमा वल में और नियम विशेष विनय में निहित होते हैं।

(६०) जिनके तप विशेष, नियम विशेष और गुण विशेष आदि सभी विनय युक्त नहीं होते हैं, उनके लिए मोक्ष रूपी फल निरर्थक होता है (अर्थात् उन्हें उन साधनों से मोक्ष प्राप्त नहीं होता है)।

(६१) अनन्त ज्ञानी जिनेन्द्र देवों के द्वारा सर्वप्रथम सभी कर्मभूमियों में विनय गुण प्रतिपादित किया गया है। निश्चय ही (यह) मोक्ष मार्ग में ले जाने वाला शाश्वत (गुण) है।

(६२) जो विनय है, वही ज्ञान है (और) जो ज्ञान है उसे ही विनय कहा जाता है। विनय से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से विनय को जाना जाता है।

(६३) मनुष्यों के सम्पूर्ण सदाचरण का सार-तत्त्व विनय में प्रतिष्ठित होना है। विनय रहित तो निर्ग्रन्थ साधु भी प्रशंसित नहीं होते।

(६४) सुवहुश्रुत होकर भी जो अविनित, अल्प श्रद्धा और संवेग वाला होता है (वह) चारित्र की आराधना नहीं करता है। चारित्र भ्रष्ट जीव (संसार में) भ्रमण करता है।

थोवेण[1] वि संतुट्ठो सुएण जो विणयकरणसंजुत्तो[2] ।
पंचमहव्वयजुत्तो गुत्तो आराहओ होइ ॥६५॥

[3]बहुयं पि [4]सुयमहीयं[5] किं काही विणयविप्पहीणस्स[6] ? ।
अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडी वि ॥६६॥

विणयस्स गुणविसेसा एए[7] मए वण्णिया समासेणं । दारं[8] ४ ।
नाणस्स गुणविसेसा[9] ओहियकण्णा[10] निसामेह ॥६७॥

(नाणगुणे त्ति पंचमं दारं)

न हु [11]सक्का नाउं जे नाणं जिणदेसियं महाविसयं ।
ते धन्ना जे पुरिसा नाणी य चरित्तमंता य ॥६८॥

सक्का [12]सुएण णाउं [13]उड्ढं च [14]अहं च तिरियलोयं च ।
ससुराऽसुरं समणुयं सगरुल-भुयगं सगंधव्वं ॥६९॥

जाणंति बंध-मोक्खं[15] जीवाऽजीवे य पुण्ण-पावे[16] य ।
आसव संवर निज्जर तो[17] किर नाणं चरणहेउं[18] ॥७०॥

नायाणं दोसाणं विवज्जणा, सेवणा गुणाणं च ।
धम्मस्स साहणाइं दोन्नि[19] वि किर[20] नाणसिद्धाइं ॥७१॥

नाणी वि अवट्टंतो गुणेसु, दोसे य ते अवज्जितो[21] ।
दोसाणं च न मुच्चइ तेसिं न वि[22] ते गुणे लहइ ॥७२॥

---

१. थेवेण क्ष० ॥ २. ०णसंतुट्ठो । कापा० ॥ ३. सुबहुं पि सं० क्ष० विना । बहुयं पि कापा० ॥ ४. सुअम० च० ॥ ५. ०महीअं कापा० ॥ ६. ०प्पमुक्कस्स च० ॥ ७. एव मए व० क्ष० के० ॥ ८. 'दारं ४' सं० क्ष० का० आदर्शेषु नास्ति ॥ ९. ०सा अवहियक० कापा० ॥ १०. ०यचित्ता नि० च० । ०यहियया नि० क्ष० कापा० के० ॥ ११. सक्का भासेउं ना० पुपा० ॥ १२. सुयनाणाओ उ० जे० क्ष० कापा० के० ॥ १३. उद्धं का० । उड्ढं कापा० ॥ १४. अहे क्ष० के० ॥ १५. ०मुक्खं क्ष० च० के० ॥ १६ ०पावं च । क्ष० कापा० के० ॥ १७. ते जे० च० ॥ १८. ०णहेऊ क्ष० के० ॥ १९. दुन्नि जे० क्ष० च० कापा० के० ॥ २०. किरि सं० ॥ २१. ०वज्जेंतो का० । ०वज्जितो तथा ०वज्जंतो कापा० ॥ २२. अ जे० । च च० ॥

(६५) अल्प श्रुतज्ञान से सन्तुष्ट होकर भी जो विनय और पाँच महाव्रतों से युक्त है तथा जीतेन्द्रिय है, (वह) आराधक होता है।

(६६) जिस प्रकार लाखों-करोड़ों जलते हुए दीपक भी अन्धे के लिए निरर्थक हैं (उसी प्रकार) विनय रहित व्यक्ति का बहुत अधिक शास्त्र ज्ञानी होने का भी क्या प्रयोजन ? (अर्थात् विनय रहित का शास्त्र ज्ञानी होना भी निरर्थक है।)

(६७) इस प्रकार विनय के ये विशेष गुण मेरे द्वारा संक्षेप में वर्णित किए गए हैं। (अब) ज्ञान के विशेष गुणों को कान लगाकर (अर्थात् ध्यान पूर्वक) सुनो।

(पंचम द्वार ज्ञान गुण)

(६८) वे पुरुष धन्य हैं, जो जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट अति विस्तृत ज्ञान को जानने हेतु समर्थ नहीं हैं, फिर भी जो चारित्र से सम्पन्न हैं। वस्तुतः वे ही ज्ञानी हैं।

(६९) सुर, असुर, मनुष्य, गरुड़, भुजंग, गन्धर्व (आदि) सहित ऊर्ध्व, अधो और तिर्यञ्च लोक को श्रुतज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है।

(७०) (इसी प्रकार) बन्ध-मोक्ष, जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आश्रव, संवर और निर्जरा (ये सभी भी ज्ञान के द्वारा) जाने जाते हैं। निश्चय ही ज्ञान आचरण का कारण है।

(७१) ज्ञात दोषों का परित्याग करना और गुणों का परिपालन करना— (ये) दोनों ही धर्म के साधन हैं। वास्तव में ज्ञान ही मुक्ति का हेतु है।

(७२) गुणों में स्थित नहीं होता हुआ और दोषों को नहीं त्यागता हुआ वह ज्ञानी न तो उन दोषों से मुक्त होता है और न ही वह उन गुणों को प्राप्त करता है।

नाणेण विणा करणं[1], करणेण विणा न तारयं नाणं ।
भवसंसारसमुद्दं नाणी करणट्ठिओ तरइ ॥ ७३ ॥[2]

अस्संजमेण वद्धं अन्नाणेण य [3]भवेहिं वहुएहिं ।
कम्ममलं [4]सुभमसुभं करणेण दढो धुणइ[5] नाणी ॥ ७४ ॥

'सत्थेण विणा जोहो, जोहेण विणा य[6] जारिसं सत्थं ।
नाणेण विणा करणं, करणेण विणा तहा नाणं ॥ ७५ ॥

"नादंसणिस्स[7] नाणं, न[8] वि अन्नाणिस्स होंति[9] करणगुणा ।
अगुणस्स नत्थि मोक्खो[10], नत्थि [11]अमुत्तस्स नेव्वाणं[12] ॥ ७६ ॥[13]

जं नाणं तं करणं, जं करणं पवयणस्स सो सारो ।
जो पवयणस्स सारो सो परमत्थो[14] त्ति नायव्वो ॥ ७७ ॥

परमत्थगहियसारा वंधं मोक्खं[15] च ते वियाणंता[16] ।
नाऊण बंध-मोक्खं[17] खवेंति[18] पोराणयं कम्मं ॥ ७८ ॥

---

१. करणं-क्रिया ॥ २. के० प्रति में गाथा ७३ के स्थान पर गाथा ७२ है तथा गाथा ७२ के स्थान पर गाथा ७३ है । ३. भवेहि क्ष० कापा० के० ॥ ४. सुहमसुहं क्ष० के० ॥ ५. घुणए कापा० ॥ ६. इ सं० ॥ ७. °सणस्स का० क्ष० के० । °सणिस्स कापा० ॥ ८. न विणा नाणस्स क्ष० के० ॥ ९. हुंति क्ष० च० के० ॥ १०. मुक्खो क्ष० के० ॥ ११ अमुक्खस्स कापा० । अमोक्खस्स उत्तराध्ययनसूत्रे ॥ १२. निव्वाणं क्ष० च० का० के० ॥ १३. एतद्गाथाऽनन्तरं च० आदर्शे इमे द्वे गाथे अधिके उपलभ्येते—

"नाणं खु सिक्खियव्वं नरेण लद्धूण दुल्लहं बोहिं ।
जइ इच्छसि काउं जे जीवस्स विसोहणामग्गं ॥ १ ॥
नाणेण सव्वभावा नज्जंति (? हु) सव्वलोयजीवाणं ।
तम्हा नाणं कुसलेण सिक्खियव्वं पयत्तेण ॥ २ ॥

१४. °मत्थ त्ति जे० का० क्ष० के० ॥ °मत्थो य ना° सं० ।° मत्थो अ ना° च० ॥ १५. मुक्खं च० क्ष० के० ॥ १६. °याणंते तथा °याणिंता कापा० ॥ १७. °मुक्खं च० क्ष० के० ॥ १८. खवंति का० । खविंति जे० क्ष० कापा० के० ॥

(७३) ज्ञान से रहित क्रिया (और) क्रिया से रहित ज्ञान तारने वाला (अर्थात् सार्थक) नहीं (होता है) (जबकि) क्रिया में स्थित रहा हुआ ज्ञानी संसाररूपी भवसमुद्र को तैर जाता है।

(७४) असंयम और अज्ञान से आबद्ध किन्तु क्रिया से दृढ़ ज्ञानी बहुत से भवों में संचित शुभाशुभ कर्ममल को नष्ट कर देता है।

(७५) जिस प्रकार शस्त्र से रहित योद्धा और योद्धा से रहित शस्त्र (निरर्थक होता है) उसी प्रकार ज्ञान से रहित क्रिया और क्रिया से रहित ज्ञान (निरर्थक होता है)।

(७६) (सम्यक्) दर्शन से रहित (व्यक्ति) को (सम्यक्) ज्ञान नहीं होता है और (सम्यक्) ज्ञान से रहित व्यक्ति को क्रिया गुण (अर्थात् सम्यक् चारित्र) नहीं होता है। (सम्यक्) चारित्र से रहित (व्यक्ति) का निर्वाण नहीं होता है।

(७७) जो ज्ञान है, वही क्रिया है। जो क्रिया है, वही आगम ज्ञान का सार है (और) जो आगम ज्ञान का सार है, वही परमतत्त्व है। इस प्रकार जानो।

(७८) परमतत्त्व के सार को ग्रहण किए हुए वे (ज्ञानी) बंध और मोक्ष को जानते हैं (अर्थात् बंध और मोक्ष के ज्ञाता होते हैं) और बंध और मोक्ष (के स्वरूप) को जानकर वे पुराने कर्मों को क्षय करते हैं।

नाणेण होइ करणं, करणं नाणेण फासियं होइ ।
दोण्हं[1] पि समाओगे[2] होइ विसोही चरित्तस्स ॥ ७९ ॥

नाणं पगासगं[3], सोहओ तवो, संजमो य[4] गुत्तिकरो ।
तिण्हं पि समाओगे मोक्खो[5] जिणसासणे भणिओ ॥ ८० ॥

किं एत्तो[6] लट्ठयरं अच्छेरतरं[7] चं[8] सुंदरतरं चं[9] ? ।
चंदमिव सव्वलोगा[10] वहुस्सुयमुहं पलोएंति[11] ॥ ८१ ॥

चंदाओ[12] नीइ जोण्हा[13] वहुस्सुयमुहाओ[14] नीइ जिणवयणं ।
जं सोऊण [15]मणूसा तरंति संसारकंतारं ॥ ८२ ॥

सूई जहा ससुत्ता न नस्सई कयवरम्मि पडिया वि ।
जीवो तहा ससुत्तो न नस्सइ [16]गओ वि संसारे[17] ॥ ८३ ॥

सूई जहा असुत्ता नासइ[18] सुत्ते अदिस्समाणम्मि ।
जीवो तहा असुत्तो नासइ[18] मिच्छत्तसंजुत्तो ॥ ८४ ॥

परमत्थम्मि सुदिट्ठे अविणट्ठेसु तव-संजमगुणेसु ।
लब्भइ गई विसिट्ठा[19] सरीरसारे विणट्ठे[20] वि ॥ ८५ ॥

जह आगमेण वेज्जो[21] जाणइ वाहिं चिगिच्छिउं[22] निउणो ।
तह आगमेण नाणी जाणइ सोहिं चरित्तस्स ॥ ८६ ॥

---

१. दुण्हं क्ष० कापा० के० ॥ २. समाजोगे जे० । समाओगे मुक्खो जिणसासणे भणिओ ॥ कापा० ॥ ३. °सयं का० । पयासयं के० ॥ ४. अ जे० च० ॥ ५. मुक्खो जे० च० के० ॥ ६. इत्तो जे० च० के० ॥ ७. °रययं च सं० । °रयरं च च० ॥ ८. व का० । च कापा० ॥ ९. वा क्ष० का० । च कापा ॥ १०. °लोगे कापा० ॥ ११. पलोयंति क्ष० च० कापा० के० । पलोइंति जे० कापा० । पलोअंति कापा० ॥ १२. °ओ नियइ क्ष० कापा० के० ॥ १३. जुन्हा जे० । जुण्हा पु० च० ॥ १४. °मुहाउ नियइ के० ॥ १५. मणुस्सा क्ष० के० ॥ १६. गयो क्ष० ॥ १७, संसारं कापा० ॥ १८. नस्सइ च० ॥ १९. विसट्ठा कापा० ॥ २०. विणट्ठम्मि ॥ का० आदर्शे मरणसमाधिप्रकीर्णकपाठभेदः ॥ २१. विज्जो जे० क्ष० च० के० ॥ २२. तिगिच्छगो पु० जे० च० कापा० । तिगिच्छगो का० । तिगिच्छिउं क्ष० कापा० के० । तिगिच्छओ तथा तिगिच्छउ कापा० ॥

(७९) ज्ञान से ही क्रिया होती है (तथा) ज्ञान से ही संयम का स्पर्श होता है और दोनों के समायोग से ही चारित्र की विशुद्धि होती है।

(८०) ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधक है और संयम निग्रह करने वाला है। इन तीनों के ही सामञ्जस्य को जिनशासन (अर्थात् जैन दर्शन) में मोक्ष कहा गया है।

(८१) इस (लोक) में बहुत अधिक विस्मयजनक, सुन्दर और बलशाली होने से क्या (लाभ)? (क्योंकि) सम्पूर्ण जगत् में (लोग) चन्द्रमा की तरह बहुश्रुत (अर्थात् विद्वान्) के मुख को देखते हैं (अर्थात् विद्वान् को सम्मान देते हैं)।

(८२) चन्द्रमा की नीति चाँदनी प्रदान करना है और बहुश्रुत की नीति (ऐसे) जिन वचन का (उपदेश देना है) जिसको सुनकर मनुष्य संसार रूपी अटवी को पार कर जाते हैं।

(८३) जिस प्रकार कूड़े में गिरी हुई धागे से युक्त सुई खोती नहीं है उसी प्रकार शास्त्र ज्ञान से युक्त जीव भी संसार में भटकता नहीं है।

(८४) जिस प्रकार धागे से रहित सुई धागा नहीं दिखाई देने पर खो जाती है उसी प्रकार शास्त्र ज्ञान से रहित जीव मिथ्यात्व से युक्त होकर (संसार में) भटक जाता है।

(८५) (जिसने) परमार्थ को सम्यक् प्रकार से जान लिया है और (जो) तप, संयम (आदि) गुणों से युक्त है (वह व्यक्ति) शरीर शक्ति विनष्ट हो जाने पर विशिष्ट गति प्राप्त करता है।

(८६) जिस प्रकार निपुण वैद्य शास्त्र ज्ञान के द्वारा रोग के उपचार को जानता है उसी प्रकार ज्ञानी आगम ज्ञान के द्वारा चारित्र की शुद्धि को जानता है।

जह आगमेण हीणो वेज्जो[1] वाहिस्स न मुणइ तिगिच्छं ।
तह आगमपरिहीणो चरित्तसोहिं न [2]याणाइ ॥८७॥

तम्हा तित्थयरपरूवियम्मि नाणम्मि अत्थजुत्तम्मि ।
[3]उज्जोओ कायव्वो नरेण [4]मोक्खाभिकामेण ॥८८॥

बारसविहम्मि वि तवे [5]सब्भितर-बाहिरे[6] जिणक्खाए ।
न वि अत्थि न वि य होही सज्झायसमं तवोकम्मं ॥८९॥

मेहा होज्ज[7] न होज्ज[8] व, जं मेहा उवसमेण कम्माणं ।
उज्जोओ कायव्वो नाणं अभिकंखमाणेणं ॥९०॥

[9]कम्ममसंखेज्जभवं खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो ।
[10]बहुभवसंचिययं पि हु सज्झाएणं खणे खवइ ॥९१॥

सतिरिय-सुरासुर-नरो सकिन्नर-महोरगो[11] सगंधव्वो ।
सव्वो छउमत्थजणो पडिपुच्छइ [12]केवलिं लोए ॥९२॥

[13]एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं [14]वच्चए नरोऽभिक्खं ।
तं तस्स होइ नाणं जेण विरागत्तणमुवेइ ॥९३[15]॥

[13]एकम्मि वि जम्मि पए संवेगं वीयरागमग्गम्मि[16] ।
वच्चइ नरो अभिक्खं तं मरणंते न मोत्तव्वं[17] ॥९४॥

---

१. विज्जो जे० स० के० ॥ २. याणेइ स० कापा० के० । जाणेइ कापा० ॥ ३. निज्जोओ जे० ॥ ४. मुक्खा° जे० स० च० के० ॥ ५. सब्भित्त° कापा० ॥ ६. °रे कुसलदिट्ठे । जे० च० कापा० ॥ ७. हुज्ज च० ॥ ८. हुज्ज च० स० कापा० के० ॥ ९. °मसंखिज्ज° च० स० के० ॥ १०. बहुयभवसंचियं पि स० कापा० के० ॥ ११. °रगा सगंधव्वा कापा० ॥ १२. केवलं कापा० । १३. इक्कम्मि जे० च० स० कापा० के० ॥ १४. वच्चइ के० ॥ १५. का० आदर्शे इयं ९३ तमी गाथा ९५ तमीगाथाऽनन्तरमस्ति ॥ १६. वीयराय° के० ॥ १७. मुत्तव्वं जे० च० स० कापा० के० ॥

(८७) जिस प्रकार शास्त्र ज्ञान से रहित वैद्य रोग के उपचार को नहीं जानता है उसी प्रकार आगम ज्ञान से रहित (व्यक्ति) चारित्र की शुद्धि को नहीं जानता है।

(८८) इसलिए मोक्ष की आकांक्षा करने वाले मनुष्य के द्वारा तीर्थंकर प्ररूपित अर्थ युक्त ज्ञान की प्राप्ति हेतु उद्यम किया जाना चाहिए।

(८९) जिनेन्द्रों के द्वारा आभ्यान्तर और वाह्य वारह प्रकार के तप कहे गये हैं, किन्तु (उनमें) स्वाध्याय के तुल्य तपकर्म न है और न ही होगा।

(९०) कर्मो के उपशम से मेधा (अर्थात् वुद्धि) (प्राप्त) हो अथवा न हो, ज्ञान के आकांक्षी (उस व्यक्ति) को उद्यम तो करना ही चाहिए।

(९१) निश्चय ही सजग (साधक) असंख्यात् भवों के कर्मो को एक क्षण में ही क्षय कर देता है। (इसी प्रकार) स्वाध्याय से अनेक भव के संचित (कर्म) भी क्षण भर में अवश्य ही क्षय हो जाते हैं।[1]

(९२) लोक में (रहे हुए) तिर्यंच, सुर, असुर, मनुष्य, किन्नर, महोरग और गन्धर्व सहित सभी छद्मस्थ जन केवली से (ही) प्रतिपृच्छा करते हैं।

(९३) जिस एक पद के द्वारा मनुष्य अभीक्ष्ण संवेग (अर्थात् वैराग्य) को प्राप्त करता है, वैराग्य को प्राप्त कराने वाला वह पद ही उसका ज्ञान होता है।

(९४) जिस एक पद के द्वारा मनुष्य वीतराग मार्ग में अभीक्ष्ण संवेग को प्राप्त करता है, मृत्यु समय में भी उस पद को नहीं छोड़ना चाहिए।

---

१. व्याकरण की दृष्टि से यहाँ एक वचन है किन्तु भाव वहुवचन का है इसलिए अनुवाद बहुवचन में किया गया है।

[1]एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए ।
सो तेण मोहजालं खवेइ अज्झप्पजोगेणं[2] ॥९५॥[3]

---

१ इक्कम्मि जे० च० क्ष० कापा० के० ॥

२. °प्पएण जोगेणं कापा० । °प्पओगेणं तथा °प्पजोएणं कापा० । °प्पजोएहिं कापा० । °प्पजोगेहि के० ॥ ३. एतद्गाथाऽनन्तरं च आदर्शे इमास्त्रयोदश गाथा अधिकाः सन्ति—

''जइ वि [? य] दिवसेण पयं ठवेइ पक्खेण वा सिलोगद्धं ।
उज्जोयं मा मुंचह जइ इच्छह सिक्खिउं नाणं ॥ १ ॥
पेच्छह तं अच्छेरं अणत्थमाणेण अत्थमाणस्स ।
पाहाणस्स बलवओ कओ खओ वारिधाराओ ? ॥ २ ॥
तह सीयलेण तह मउयएण जोगं अमुंचमाणेण ।
उदएण गिरी भिन्नो थेवं थेवं वहंतेणं ॥ ३ ॥
अप्परिजिए [?हु] मणुओ बहुणा सुत्तेण अपरिसुद्धेण ।
धुलिएण(?) विणएण य जाणयजणहासओ होइ ॥ ४ ॥
थेवेण अवच्चामेलिएण थिरपरिचिएण गहिएण ।
सज्झाएण मणुस्सो अलज्जिय अणाउलो होइ ॥ ५ ॥
गंगाए वालुय जो मिणिज्ज [वा] संचिऊण य समत्थो ।
हत्थउडेहिं समुद्दं सो झाणगुणे अणुगुणेज्जा ॥ ६ ॥
जं किर जाणिस्सामि तं खु भणिस्सामि अप्पणो समए ।
सुअनाणस्स भगवओ गुणोवएसं समासेणं ॥ ७ ॥
पावाओ विणिवत्ती पवत्तणा तह य कुसलधम्मस्स ।
विणयस्स य पडिवत्ती तिण्णि वि नाणे अहि(ही)णाइं ॥ ८ ॥
संजमजोय(ए) आराहणाय आणाय वट्टमाणस्स ।
नाणेण नाउ सक्का तम्हा नाणं अहिज्जेह ॥ ९ ॥
नाणे आउत्ताणं नाणीणं नाणजोगजुत्ताणं ।
को निज्जरं तुलिज्जा चलणे अचलं व णिज्जाणं ॥ १०॥
छट्ठऽट्ठम-दसम-दुवालसेहि अबहुस्सुयस्स जा सोही ।
इत्तो बहुयरिया पुण हविज्ज जिमियस्स नाणिस्स ॥ ११ ॥
जं नेरइया (? अन्नाणी) कम्मं खवेइ बहुयाहि वासकोडीहिं ।
तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेणं ॥ १२ ॥
सव्वत्थामेण सुयं घेत्तव्वं, अणसणं जहाथामं ।
अह पुण को परमत्थो चरित्तबलिएण होयव्वं ॥ १३ ॥

(९५) जिस एक पद के द्वारा (व्यक्ति) वीतराग के मत (अर्थात् धर्म-मार्ग) में संवेग को प्राप्त करता है वह (पद) आध्यात्मयोग के द्वारा उसके मोहजाल को क्षीण कर देता है ।

न हु मरणम्मि [1]उवग्गे [2]सक्का वारसविहो सुयक्खंधो ।
सव्वो अणुचिंतेउं धणियं पि समत्थचित्तेणं ॥९६॥[3]

तम्हा [4]एक्कं पि पयं चिंतंतो[5] तम्मि देस-कालम्मि ।
आराहणोवउत्तो जिणेहिं[6] आराहगो भणिओ ॥९७॥

आराहणोवउत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं ।
उक्कोसं तिण्णि भवे गंतूण[7] [8]लभेज्ज निव्वाणं ॥९८॥

नाणस्स गुणविसेसा केइ भए वण्णिया समासेणं । दारं[9] ५ ।
चरणस्स गुणविसेसा [10]ओहियहियया निसामेह ॥९९॥

(चरणगुणे त्ति छट्ठं दारं)

ते धन्ना जे धम्मं [11]चरिउं जिणदेसियं पयत्तेणं ।
[12]गिहपासवंधणाओ उम्मुक्का सव्वभावेणं ॥१००॥

भावेण अणन्नमणा[13] जे जिणवयणं सया [14]अणुचरंति ।
ते[15] मरणम्मि [16]उवग्गे न विसीयंती गुणसमिद्धा ॥१०१॥

---

१. उग्गे तथा उवग्गो कापा० ॥ २. सक्को च० क्ष० के० ॥ ३. इतोऽनन्तरं च० आदर्शे इमे द्वे गाथे अधिके स्तः—
"जं चिय नाणं तं चेव दंसणं नाणओ करणजोगा ।
करणकिरियप्पओगेण होइ बंधो व मुक्खो वा ॥१॥
तम्हा सिक्खित्तु सुयं नरेण आगमसुइप्पहाणेण ।
पंचविहम्मि चरित्ते धणियं अप्पा ठवेयव्वो ॥२॥"
४. इक्कं जे० च० क्ष० के० ॥ ५. चिंतितो च० ॥ ६. जिणेहि का० ॥ ७. गंतूणं लहइ नि० क्ष० कापा० के० ॥ ८. लभिज्ज जे० च० कापा० ॥ ९. 'दारं ५' इति सं० क्ष० का० आदर्शेषु नास्ति ॥ १०. अवहियहियया कापा० ॥ ११. चरियं सं० का० । चरिउं कापा० ॥ १२. गिहिपा० कापा० । ०पासवंधाओ के० ॥ १३. ०णा जिणवयणं जे नरा अणु० क्ष० के० । ०णा जे जिणवयणं नरा अणु० जे० च० कापा० ॥ १४. ०चरिंति कापा० ॥ १५. तं सं० ॥ १६. उवण्णे च० ॥

(९६-९७) निश्चय ही मृत्यु के उपस्थित होने पर बारह प्रकार के श्रुतस्कन्ध के ज्ञाता (स्वामी) के द्वारा भी समर्थचित्त से उन सबका अनुचिन्तन करना सम्भव नहीं है। इसलिए उस देश-काल (अर्थात् परिस्थिति) में आराधना के उपयुक्त एक पद का भी चिन्तन करता हुआ (व्यक्ति) जिनेन्द्रों के द्वारा आराधक कहा गया है।

(९८) मृत्यु के अवसर पर जो सुविहित अप्रमत्त होकर सम्यक् प्रकार से आराधना करता है वह अधिक से अधिक तीन भव करके निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

(९९) (ये) ज्ञान के कुछ विशेष गुण मेरे द्वारा संक्षेप में वर्णित किये गये हैं। (अब) चारित्र के विशेष गुणों को शान्त हृदय से सुनो।

[षष्ठम द्वार चारित्रगुण]

(१००) गृहस्थ-जीवन रूपी पाश के बन्धन से सर्वथा मुक्त (होकर) जो जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्माचरण के लिए प्रवृत्त होते हैं, वे (व्यक्ति) धन्य हैं।

(१०१) जो अनन्यभाव से सदा जिनवचन का अनुसरण करते हैं, गुणों से समृद्ध वे (व्यक्ति) मृत्यु समीप आने पर भी खेद नहीं करते हैं।

सीयंति ते [1]मणूसा सामण्णं दुल्लहं पि लद्धूणं।
जेहऽप्पा[2] न निउत्तो दुक्खविमोक्खम्मि[3] मग्गम्मि ॥१०२॥

दुक्खाण ते मणूसा[4] पारं गच्छंति जे[5] य दढधीया।
भावेण अणन्नमणा पारत्तहियं [6]गवेसेंति ॥१०३॥

[7]मग्गंती परमसुहं ते पुरिसा जे [8]खवंति [9]उज्जुत्ता।
कोहं माणं मायं लोभं [10]अरइं [11]दुगुंछं च ॥१०४॥

लद्धूण वि माणुस्सं सुदुल्लहं जे पुणो [12]विराहेंति।
ते [13]भिन्नपोयसंजत्तिगा[14] व पच्छा दुही होंति[15] ॥१०५॥

[16]लद्धूण वि[17] सामण्णं पुरिसा जोगेहिं[18] जे न हायंति।
ते लद्धपोयसंजत्तिगा[19] व पच्छा न सोयंति[20] ॥१०६॥

न हु[21] सुलहं माणुस्सं, लद्धूण वि होइ दुल्लहा बोही।
बोहीए वि य लंभे सामण्णं दुल्लहं होइ ॥१०७॥

सामण्णस्स वि लंभे नाणाभिगमो उ[22] दुल्लहो [23]हवइ।
नाणम्मि वि[24] आगमिए चरित्तसोही हवइ [25]दुक्खं ॥१०८॥

---

१. मणुस्सा० च० क्ष० ॥ २. जो अप्पा के० ॥ ३. °मुक्खम्मि० जे० च० क्ष० के० ॥ ४. मणुस्सा के० ॥ ५. जे दढद्धीया का० ॥ ६. गवेसंति जे० क्ष० कापा० के० । गवेसिंति सं० कापा० ॥ ७. मग्गंति परमसोक्खं ते का० । मूलपाठः का० आदर्शे पाठान्तरत्वेनास्ति ॥ ८. खविंति क्ष० कापा० के० ॥ ९. उज्जत्ता कापा० ॥ १०. अरई सं० ॥ ११. दुगंछं का० के० ॥ १२. °राहंति जे० च० कापा० । °राहिंति कापा० के० ॥ १३. भिन्न-पायसा विव वच्छा पच्छा कापा० ॥ १४. °त्तिया व क्ष० के० । °त्तिग व्व च० कापा० ॥ १५. हुंति जे० क्ष० के० ॥ १६. लद्धूणं माणुस्सं पु° का० ॥ १७. वि सामण्णं कापा० ॥ १८. जोगेहिं तथा जोगेण कापा० ॥ १९. °त्तिया क्ष० कापा० के० ॥ २०. सोइंति कापा० ॥ २१. य कापा० ॥ २२. य जे० क्ष० कापा० के० ॥ २३. होइ सं० विना । हवइ कापा० ॥ २४. य क्ष० कापा० के० ॥ २५. दुलहा ॥ क्ष० कापा० के० ॥

(१०२) जिन्होंने दुःखमुक्ति के मार्ग में (अपनी) आत्मा को नियोजित नहीं किया है, वे मनुष्य दुर्लभ श्रमणत्व को प्राप्त करके भी विषाद करते हैं।

(१०३) जो दृढ़-वुद्धि (अर्थात् स्थित-प्रज्ञ) हैं और अनन्य भाव से पारलौकिक कल्याण को खोजते हैं, वे मनुष्य दुःखों के पार चले जाते हैं।

(१०४) जो उद्यमी पुरुष क्रोध, मान, माया, लोभ, अरति और जुगुप्सा को क्षीण कर देते हैं, वे परमसुख की गवेषणा करते हैं।

(१०५) अति दुर्लभ मनुष्य जन्म को प्राप्त करके भी, जो उसे पुनः विराधित कर देते हैं (अर्थात् व्यर्थ में नष्ट कर देते हैं), वे भग्न जहाज से यात्रा करने वालों की तरह वाद में दुःखी होते हैं।

(१०६) जो पुरुष योग-साधना के द्वारा श्रमणत्व को प्राप्त करके (उसका) परित्याग नहीं करते हैं, वे लब्ध-पोत-यात्री के समान बाद में पश्चाताप नहीं करते।

(१०७) मनुष्य जन्म (प्राप्त करना) सुलभ नहीं है। (मनुष्य जन्म) प्राप्त करके भी वोधि (प्राप्त करना) दुर्लभ होता है और वोधि (प्राप्त) हो जाने पर भी श्रमणत्व की प्राप्ति दुर्लभ होती है।

(१०८) श्रमणत्व को प्राप्त करके भी ज्ञान का सीखना दुर्लभ होता है और आगमिक ज्ञान को प्राप्त करके भी चारित्र शुद्धि को (प्राप्त करना और भी) कठिन होता है।

अत्थि पुण केइ पुरिसा सम्मत्तं नियमसो पसंसंति ।
केई [1]चरित्तसोहिं नाणं च तहा पसंसंति ॥ १०९ ॥[2]

सम्मत्त-चरित्ताणं [3]दोण्हं पि समागयाण संताणं ।
किं तत्थ [4]गेण्हियव्वं पुरिसेणं बुद्धिमंतेणं ? ॥ ११० ॥

सम्मत्तं अचरित्तस्स हवइ, जह कण्ह-सेणियाणं तु ।
जे[5] पुण चरित्तमंता तेसिं नियमेण सम्मत्तं ॥ १११ ॥

भट्ठेण चरित्ताओ [6]सुट्ठुयरं दंसणं गहेयव्वं ।
सिज्झंति चरणरहिया, दंसणरहिया न सिज्झंति ॥ ११२ ॥

उक्कोसचरित्तो वि य पडेइ मिच्छत्तभावओ [7]कोइ ।
किं पुण सम्मद्दिट्ठी सरागधम्मम्मि वट्टंतो ॥ ११३ ॥

अविरहिया जस्स मई [8]पंचहिं समिईहिं [9]तिहिं वि गुत्तीहिं ।
[10]न य कुणइ राग-दोसे तस्स चरित्तं हवइ सुद्धं ॥ ११४ ॥

तम्हा तेसु पयत्तह कज्जेसु य उज्जमं पयत्तेणं ॥
सम्मत्तम्मि चरित्ते नाणम्मि य मा पमाएह ॥ ११५ ॥[11]

---

१. °त्तसोही सं० ॥ २. इतोऽनन्तरं च० आदर्शे इयमधिका गाथोपलभ्यते—
"कह होई समत्तं, कह व चरित्तं विसुद्धभावस्स ।
नाणे जिणदेसियनिच्छयम्मि ? इच्छामि नाउं जे ॥ १ ॥"
३. दुण्हंपि के० ॥ ४. गिण्हि° के० ॥ ५. जं कापा० ॥ ६. सुट्ठुय° कापा० ॥ ७. कोत्ति का० । कोइ कापा० ॥ ८. पंचहिं समिईहिं तीहिं गु° का० । पंचहिं समिईहिं कापा० ॥ ९. तीहिं गु° क्ष० कापा० के० । तीहिं वि कापा० ॥ १०. न कुणइ राग-होसे क्ष० कापा० के० ॥ ११. इतोऽनन्तरं च० आदर्शे इयमधिका गाथोपलभ्यते—
"जो किर सम्मद्दिट्ठी उज्जुत्तो नाण-दंसण-चरित्ते ।
सो किर सम्मद्दिट्ठी भवसिद्धीओ जिणमयम्मि ॥ १ ॥

(१०९) कुछ पुरुष निश्चय ही सम्यक्त्व की प्रशंसा करते हैं, कुछ चारित्र-शुद्धि की और उसी प्रकार (कुछ मनुष्य) ज्ञान की प्रशंसा करते हैं।

(११०) सम्यग्दर्शन और चारित्र दोनों के (एक साथ) उपस्थित होने पर बुद्धिमान् पुरुषों के द्वारा वहाँ क्या ग्रहणीय है ?

(१११) चारित्र से रहित (व्यक्ति) को भी सम्यक्त्व होता है जैसे कृष्ण और श्रेणिक को, किन्तु जो चारित्रवान् हैं उनको तो नियम से सम्यक्त्व होता ही है।

(११२) (फिर भी) चारित्र से भ्रष्ट हुए (व्यक्ति) के लिए (यही) अच्छा है कि (वह) सम्यक् दर्शन को ग्रहीत करके रखे, (क्योंकि) चारित्र रहित (व्यक्ति भी भविष्य में) सिद्ध हो सकते हैं, (किन्तु) दर्शन रहित (व्यक्ति कभी भी) सिद्ध नहीं हो सकते।

(११३) उत्कृष्ट चारित्र वाला कोई (श्रमण) भी मिथ्यात्व भाव (के उदय) से गिर सकता है तो फिर गृही-धर्म (अर्थात् सराग-धर्म) का आचरण करने वाले सम्यग्दृष्टि का तो कहना ही क्या ? (अर्थात् वह तो पतित हो ही सकता है।)

(११४) पाँच समिति और तीन गुप्तियों में जिसकी मति अविराधित है (अर्थात् जो उनमें सदैव रत है) और जो राग-द्वेष भी नहीं करता हो, उसका चारित्र शुद्ध होता है।

(११५) सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र में प्रमाद नहीं करें अपितु उन कार्यों में प्रयत्नपूर्वक उद्यम करें।

चरणस्स गुणविसेसा [1]एए [2]मए वण्णिया समासेणं । दारं[3] ६.।
मरणस्स गुणविसेसा [4]अवहियहियया निसामेह ॥ ११६ ॥

(मरणगुणे त्ति सत्तमं दारं)

[5]जह व अनियमियतुरगे[6] अयाणमाणो नरो समारूढो ।
[7]इच्छेज्ज पराणीयं [8]अइगंतुं जो अकयजोगो ॥ ११७ ॥

सो पुरिसो सो [9]तुरगो पुव्विं[10] अनियमियकरणजोएणं[11] ।
[12]दट्ठूण पराणीयं भज्जंती दो वि संगामे ॥ ११८ ॥

एवमकारिजोगो[13] पुरिसो मरणे उवट्ठिए संते ।
न भवइ परीसहसहो अंगेसु परीसहनिवाए ॥ ११९ ॥

[14]पुव्विं कारियजोगो समाहिकामो य मरणकालम्मि ।
भवइ[15] य परीसहसहो विसयसुहनिवारिओ[16] अप्पा ॥ १२० ॥

पुव्विं कयपरिकम्मो पुरिसो मरणे उवट्ठिए संते ।
छिंदइ परीसहमिणं[17] निच्छयपरसुप्पहारेणं ॥ १२१ ॥

---

१. एइ मए कापा० च० । एए मे व^{0} का० ॥ २. मइ क्ष० के० ॥ ३. "दारं ६" इति सं० क्ष० का० आदर्शेपु नास्ति ॥ ४. ओहियहियया क्ष० कापा० के० ॥ ५. जह य अ^{0} कापा० । जह अनियमियतुरए के० । जह अनियमियतुरंगे जे० पु० च० का० ॥ ६. ^{0}तुरए क्ष० कापा० । तुरगो तथा तुरंगो कापा० ॥ ७. इच्छिज्ज च० । इच्छेइ क्ष० कापा० के० । इच्छिज्जा कापा० ॥ ८. अयगंतुं सं० । अइक्कंतुं क्ष० के० ॥ ९. तुरओ क्ष० के० ॥ १०. पुव्वं क्ष० कापा० के० ॥ ११. ^{0}जोगेणं क्ष० का० के० ॥ १२. लद्धूण कापा० ॥ १३. ^{0}कारिय जोगो के० ॥ १४. पुव्वं क्ष० के० ॥ १५. भवई प^{0} का० । भवइ य तथा भवइ अ कापा० ॥ १६. ^{0}वारओ क्ष० के० ॥ १७. ^{0}हचमुं नि० क्ष० का० । ^{0}हचमूं के० । ^{0}हवणं नि^{0} च० काशा० । ^{0}हतरुं नि^{0} तथा ^{0}हमिणं कापा० ॥

(११६) चारित्र के ये विशेष गुण मेरे द्वारा संक्षेप में वर्णित किये गये हैं (अब) मरण (समाधिमरण) के विशेष गुणों को शान्त हृदय से सुनो।

(सप्तम द्वार मरणगुण)

(११७) जिस प्रकार अज्ञानवश अनियन्त्रित अश्व पर सवार हुआ व्यक्ति चाहते हुए भी शत्रु सेना का अतिक्रमण नहीं कर पाता है उसी प्रकार जो असमीचीन कार्य करता है, (वह व्यक्ति भी सफल नहीं हो पाता है।)

(११८) वह पुरुष और वह अश्व दोनों ही पूर्व में (किये गये अपने) अनियमित क्रिया-कलापों के कारण शत्रु सेना को देखकर ही पलायन कर जाते हैं।

(११९) जिसने योग-साधना नहीं की है, ऐसा पुरुष मरणकाल के उपस्थित होने पर शरीर में उत्पन्न वेदना रूपी परीषह (कष्ट) को सहन नहीं कर पाता है।

(१२०) पूर्व में जिसने योग-साधना की है, ऐसी विषयसुख का निवारण करनेवाली और समाधि की इच्छुक आत्मा मृत्यु के अवसर पर परीषह सहन करने वाली होती है।

(१२१) पूर्व में संस्कारित हुआ व्यक्ति मृत्यु के उपस्थित होने पर (दृढ़) निश्चय रूपी कल्हाड़ी के प्रहार से इन परीषहों को नष्ट कर देता है।

[1]बाहिंति इंदियाइं [2]पुव्वमकारियपइन्नचारिस्स[3] ।
अकयपरिकम्म[4] जीवो मुज्झइ आराहणाकाले ॥१२२॥

[5]आगमसंजुत्तस्स वि इंदियरसलोलुयं[6] पइट्ठस्स ।
जइ वि मरणे समाही [7]हवेज्ज, न वि होज्ज[8] वहुयाणं ॥१२३॥

असमत्तसुओ वि मुणी पुव्विं सुकयपरिकम्मपरिहत्थो[9] ।
संजम-मरणपइन्नं सुहमव्वहिओ समाणेइ ॥१२४॥

इंदियसुहसाउलओ घोरपरीसहपरव्वसविउत्तो[10] ।
अकयपरिकम्म[11] कीवो मुज्झइ आराहणाकाले ॥१२५॥

न चएइ किंचि काउं पुव्विं[12] सुकयपरिकम्मवलियस्स ।
खोहं परीसहचमू [13]धीबलविणिवारिया [14]मरणे ॥१२६॥

[15]पुव्विं कारियजोगो अणियाणो [16]ईहिऊण मइकुसलो ।
सव्वत्थ अपडिबद्धो सकज्जजोगं समाणेइ ॥१२७॥

---

१. वाहेंति का० । वाहिंति तथा बाहंति कापा० ॥ २. पूर्वमकृतप्रतिज्ञाचारिणः, अकृतपरिकर्मा जीवः मुह्यति । पुव्विम° जे० ॥ ३. °पइत्तचा° क्ष० के० । °पइत्तचरितस्स च० । °पइन्नचरित्तस्स कापा० ॥ ४. °म्म कीवो का० पु० क्ष० के० । °म्म किच्चो च० ॥ ५. °मसंवुत्त° सं० जे० कापा० ॥ ६. °लोलुपं क्ष० कापा० के० ॥ ७. हविज्ज च० क्ष० के० ॥ ८. हुज्ज जे० च० क्ष० के० ॥ ९. °हच्छो जे० ॥ १०. °सनिउत्तो कापा० ॥ ११. °म्म जीवो कापा० ॥ १२. पुव्वं च०क्ष ० के० ॥ १३. घिइबल° च० क्ष० के० ॥ १४. मरणकाले ॥ जे० च० कापा० ॥ [illegible]°कारिय जोगो के० ॥ १५. पुव्वं क्ष० के० ॥ १६. ईहिऊण मइ° इत्यपि सङ्गतम् ॥

(१२२) बहिर्मुखी इन्द्रियों वाला, छिन्न चारित्र वाला, असंस्कारित तथा पूर्व में साधना नहीं किया हुआ जीव आराधना काल में (अर्थात् समाधिमरण के अवसर पर) विचलित हो जाता है।

(१२३) इन्द्रियरसों में गृद्ध किन्तु आगम ज्ञान से युक्त (कुछ ही) साधुओं का मृत्यु काल में समाधिमरण होता है, (परन्तु) अधिकांश का (समाधिमरण) नहीं होता है।

(१२४) पूर्व में सुसंस्कारों से संस्कारित, किन्तु श्रुतज्ञान से रहित निपुण मुनि समाधि-मरण को प्राप्त होकर अव्यवहित सुख को प्राप्त करता है।

(१२५) ऐन्द्रिक सुख-सुविधा का आकांक्षी, कठोर परीषहों के परवश तथा व्याकुल चित्त वाला असंस्कारित कातर जीव आराधना काल में (अर्थात् समाधिमरण के अवसर पर) विचलित हो जाता है।

(१२६) धैर्य रूपी बल से रोकी गई परीषह रूपी सेना, पूर्व में सुसंस्कारित बलवान् (जीव) को मृत्यु के अवसर पर रंच मात्र (अर्थात् किंचित) भी क्षोभित करने में समर्थ नहीं होती है।

(१२७) निदान से रहित पूर्व में की गई योग-साधना से विचारपूत बुद्धि-निपुण (व्यक्ति) सर्वत्र अप्रतिबद्ध होकर अपने साधना रूपी कार्य को सम्पन्न करता है।

उप्पीलिया सरासण [1]गहियाउहचावनिच्छियमईओ[2] ।
विंधइ[3] चंदगवेज्झं[4] झायंतो[5] अप्पणो सिक्खं ॥१२८॥[6]

जइ वि[7] करेइ पमायं थेवं[8] पि य अन्नचित्तदोसेणं ।
[9]तह वि य [10]कयसंधाणो [11]चंदगवेज्झं न[12] विंधेइ ॥१२९॥

तम्हा [13]चंदगवेज्झस्स कारणा अप्पमाइणा निच्चं ।
[14]अविरहियगुणो अप्पा कायव्वो मोक्खमग्गम्मि[15] ॥१३०॥

---

१. °वनिच्छय° च० क्ष० कापा० के० ॥ २. °मइया । कापा० ॥ ३. विंझइ कापा० ॥ ४. °गविज्झं जे० क्ष० के० । °गविज्जं च० कापा० ॥ ५. दायंतो कापा० ॥ ६. इतोऽनन्तरं च० आदर्शे इमाः पञ्च गाथा अधिकाः सन्तिः—
''पुव्विं कयपरिकम्मो गहियसरो निच्छिउं जहा रहिओ ।
विंधइ चंदगविज्जं दायंतो अप्पणो सिक्खं ॥ १ ॥
सो गुरुजणोवइट्ठं ठाणं ठाऊण अंछई वा वि ।
चंदगदिट्ठिमइगओ विंधइ पुव्विं सुकयजोगो ॥ २ ॥
सो जइ कहवि पमायं वक्खित्तो करइ चित्तदोसेणं ।
ठाणाओ व नियत्तइ चंदगवेज्जं न साहेइ ॥ ३ ॥
एवं [?पि] हु पव्वइओ उज्जुत्तो नाण-दंसण-चरित्ते ।
घेत्तूणऽमोहचावं ठाणे जिणदेसिए ठाइ ॥ ४ ॥
सो सुविहियपंचिंदियएगत्तीभावनिच्छियमईओ ।
विंधइ चंदगवेज्जं मरणसमज्झायकालम्मि ॥ ५ ॥''
७. य सं० क्ष० कापा० के० ॥ ८. थोवं क्ष० कापा० के० ॥ ९. तह कयसंधाणो वि हु चं° पु० च० क्ष० का०, अत्र 'हु' स्थाने 'य' च० क्ष० के० ॥ १०. °यसंजोगो चं° कापा० ॥ ११. °गविज्झं जे० के० ॥ १२. नो कापा० ॥ १३. °गविज्झ° कापा० के० । °गविज्झं सकारणं अप्प° जे० पु० च० कापा० ॥ १४. अविराहि° क्ष० के० ॥ १५. मुक्ख° जे० क्ष० च० के० ॥

(१२८) स्थिरबुद्धि से (व्यक्ति) अपनी शिक्षा का स्मरण करता हुआ कसे हुए धनुष पर तीर चढ़ाकर चन्द्रवेध (अर्थात् राधावेध) को वेध देता है।

(१२९) अन्यत्र-चित्त रूपी दोष के कारण यदि (कोई व्यक्ति) थोड़ा भी प्रमाद करता है तो (वह) धनुष पर तीर चढ़ाकर भी चन्द्रवेध को नहीं वेध पाता है।

(१३०) चन्द्रवेध के लिए (अर्थात् लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए) मोक्ष-मार्ग में (प्रयत्नशील) आत्मा को सदैव ही अप्रमादी होकर निरन्तर (सद्) गुण की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए।

[1]सम्मत्तलद्धवुद्धिस्स [2]चरिमसमयम्मि वट्टमाणस्स ।
आलोइय-निंदिय-गरहियस्स[3] मरणं हवइ सुद्धं ॥१३१॥

जे मे जाणंति जिणा अवराहे[4] नाण-दंसण-चरित्ते ।
ते सव्वे आलोए उवट्ठिओ सव्वभावेणं ॥१३२॥

जो [5]दोन्नि जीवसहिया रुंभइ संसारबंधणा पावा ।
रागं दोसं च तहा सो मरणे होइ कयजोगो ॥१३३॥

जो तिण्णि जीवसहिया दंडा मण-वयण-कायगुत्तीओ ।
नाणंकुसेण गिण्हइ सो मरणे होइ कयजोगो ॥१३४॥

जो [6]चत्तारि कसाए [7]घोरे [8]ससरीरसंभवे निच्चं ।
जिणगरहिए[9] निरुंभइ सो मरणे होइ कयजोगो ॥१३५॥

जो पंच इंदियाइं[10] सन्नाणी विसयसंपलित्ताइं ।
नाणंकुसेण गिण्हइ सो मरणे होइ कयजोगो ॥१३६॥[11]

---

१. °त्तलद्धव्वु° च० क्ष० कापा० । °त्तवुद्धिलद्धस्स कापा० ॥ २. चरम° जे० च० का० । चरिम° कापा० ॥ ३. °गरिहि° कापा० ॥ ४. °राहा ना° सं० क्ष० के० । °राहे जेसु जेसु ठाणेसु । ते कापा० ॥ ५. दुन्नि जे० च० क्ष० के० ॥ ६. °त्तारि निरुंभइ घोरे सं० कापा० ॥ ७. घोरा कापा० ॥ ८. संसारसंभ° कापा० ॥ ९. °ए कसाए सो सं० कापा० ॥ १०. इंदियायं स° सं० । इंदिएहि स° कापा० ॥ ११. इतोऽनन्तरं च० आदर्शे इदं गाथा-युग्ममधिकं विद्यते—

"अविरहिया जस्स मई पंचहि समिईहि तीहि गुत्तीहिं ।
न य कुणइ राग-दोसे सो मरणे होइ कयजोगो ॥ १ ॥
पंचसमिईपहाणो पंचिंदियसंवुडो गुणसमिद्धो ।
एगत्तीभावगओ सो मरणे होइ कयजोगो ॥ २ ॥"

(१३१) जीवन के अन्तिम चरण (सन्ध्या-वेला) को प्राप्त सम्यक् लब्ध-बुद्धि वाले एवं अपने पाप कर्म की आलोचना, निन्दा और गर्हा करने वाले व्यक्ति का मरण शुद्ध होता है (अर्थात् वह समाधि-मरण को प्राप्त होता है) ।

(१३२) ज्ञान, दर्शन और चारित्र में मेरे द्वारा (हुए) जिन-जिन अपराधों को जिनदेव जानते हैं, उन सव (अपराधों) की सर्वभाव से आलोचना करने के लिए (मैं) उपस्थित हुआ हूँ ।

(१३३) अपना हित (चाहने वाला) जो जीव राग और द्वेष दोनों को संसार-वंधन का कारण और पाप मानकर रोकता है, वह मृत्यु के अवसर पर कृतयोग (लब्ध-लक्ष्य) होता है ।

(१३४) अपना हित (चाहने वाला) जो जीव मन, वचन और कायगुप्ति के द्वारा ज्ञान अंकुश से त्रिदंडों का निग्रह करता है, वह मृत्यु के अवसर पर कृतयोग (लब्ध-लक्ष्य) होता है ।

(१३५) जिनदेव द्वारा निन्दित संसार में होने वाले चारों घोर कषायों को जो सदैव वश में रखता है, वह मृत्यु के अवसर पर कृतयोग (लब्ध-लक्ष्य) होता है ।

(१३६) जो सम्यक्ज्ञानी विषयसुखों में लिप्त पाँच इन्द्रियों को ज्ञान रूपी अंकुश से वश में रखता है, वह मृत्यु के अवसर पर कृतयोग (लब्ध-लक्ष्य) होता है ।

[1]छज्जीवकायहियओ [2]सत्तभयट्ठाणविरहिओ साहू ।
[3]एगंतमद्दवमओ [4]सो मरणे होइ कयजोगो ॥१३७॥

जेण जिया अट्ठ मया गुत्तो चिय[4] नवहिं बंभगुत्तीहिं ।
आउत्तो दसकज्जे[5] सो मरणे होइ कयजोगो ॥१३८॥[6]

आसायणाविरहिओ [7]आराहिंतो सुदुल्लहं मोक्खं[8] ।
सुक्कज्झाणाभिमुहो सो मरणे होइ [9]कयजोगो ॥१३९॥

जो विसहइ बावीसं परीसहा, दुस्सहा[10] उवस्सग्गा ।
[11]सुन्ने व आउले वा सो मरणे होइ [12]कयजोगो ॥१४०॥[13]

---

१. °वनिकायहियो सत्त° क्ष० का० के० । °वकायहियओ तथा °वक्कायहिओ इति कापा० ॥ २. सत्त य भयठाण° का० । सत्तभयट्ठाण° कापा० ॥ ३. एक्कंतमद्दवगओ सं० का० । इक्कंत° कापा० ॥ ४. वि हु न° क्ष० के० । वि य नवहि का० ॥ ५. °कज्जे मरणे सो हो° सं० जे० कापा० ॥ ६. इतोऽनन्तरं का० आदर्शस्य पाठान्तरे इमे द्वे गाथे अधिके स्तः—
"जह सुकुसलो वि विज्जो अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाहिं ।
विज्जोवएस सुच्चा पच्छा सो कम्ममायरई ॥ १ ॥
देसं खेत्तं च जाणित्ता वत्थं पत्तं उवस्सयं ।
संगहे साहवग्ग (? ग्गं) वा सुत (त्त) त्थ (त्थं) च निहालई ॥ २ ॥
७. आराहेंतो का० । आराहिंसु दुल्लहं के० ॥ ८. मुक्खं जे० च० क्ष० के० ॥ ९. कइजोगो सं० ॥ १०. °हा य उवसग्गा जे० च० क्ष० । °हा उ उवसग्गा के० ॥ ११. सुन्ने जणाउले कापा० ॥ १२. कइजोगो सं० जे० ॥ १३. इतोऽन्तरं च० आदर्शे इयमधिका गाथाऽस्ति—
"सीयसहो उण्हसहो वायाऽऽयव-खु-प्पिवास-अरइसहो ।
पुढवी विव सव्वसहो सो मरणे होइ कयजोगो ॥ १ ॥"

(१३७) (जो) मुनि सात भय स्थानों से रहित, छह जीव निकाय का हितरक्षक (और) पूर्णतः निराभिमानी होता है, वह मृत्यु के अवसर पर कृतयोग (लब्ध-लक्ष्य) होता है।

(१३८) जिसने आठ प्रकार के मद जीत लिये हैं, (जो) ब्रह्मचर्य की नो गुप्तियों के द्वारा गुप्त है (तथा) (जो) दस प्रकार के कार्यों (अर्थात् दस धर्मों)[1] के प्रति सजग है, वह मृत्यु के अवसर पर कृतयोग (लब्ध-लक्ष्य) होता है।

(१३९) जो अतिदुर्लभ मोक्ष (मार्ग) की आशातना (तिरस्कारभाव) से रहित होकर और शुक्ल ध्यान में अभिमुख होकर आराधना करता है, वह मृत्यु के अवसर पर कृतयोग (लब्ध-लक्ष्य) होता है।

(१४०) जो दुःस्सह उपसर्गों एवं बाईस परीषहों को सहन करता है तथा निर्जन स्थानों में भयभीत नहीं होता है, वह मृत्यु के अवसर पर कृतयोग (लब्ध-लक्ष्य) होता है।

---

१. **दस धर्म**—क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दस भेद मुनिधर्म के हैं।

धन्नाणं तु[1] कसाया जगडिज्जंता वि परकसाएहिं ।
[2]निच्छंति[3] समुट्ठेउं सुनिविट्ठो पंगुलो चेव ॥१४१॥

सामण्णमणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा होंति[4] ।
मन्नामि [5]उच्छुपुप्फं व निप्फलं तस्स सामण्णं ॥१४२॥

जं अज्जियं चरित्तं देसूणाए वि[6] पुव्वकोडीए ।
तं पि [7]कसाइयमेत्तो[8] नासेइ नरो मुहुत्तेण ॥१४३॥

जं अज्जियं च कम्मं अणंतकालं[9] पमायदोसेणं ।
तं निहयराग-दोसो [10]खवेइ पुव्वाण कोडीए[11] ॥१४४॥

जइ उवसंतकसाओ लहइ अणंतं पुणो वि पडिवायं ।
किह[12] सक्का [13]वीससिउं [14]थोवे वि कसायसेसम्मि[15] ? ॥१४५॥

खीणेसु जाण खेमं, जियं जिएसु, अभयं [16]अभिहएसु ।
नट्ठेसु यावि नट्ठं सोक्खं[17] च [18]जओ कसायाणं ॥१४६॥

---

१. खु च० का० ॥ २. नेच्छं° का० । निच्छं° कापा० ॥ ३. °ति समुट्ठित्ता सु° क्ष० का० के० । °ति उवट्ठित्ता सु° जे० पु० कापा० । °ति समुट्ठेउं कापा० ॥ ४. हुंति जे० च० क्ष० के० ॥ ५. उच्छपु° तथा उंछपु कापा० ॥ ६. य का० क्ष० के० ॥ ७. °यचित्तो क्ष० कापा० के० ॥ °यमित्तो जे० च० कापा० ॥ ८. °त्तो हारेइ क्ष० का० के० । °त्तो नासेइ कापा० ॥ °त्तो नासेय न° सं० कापा० ॥ ९. °काला च० ॥ १०. खवेज्ज पु° का० । खविज्ज च० क्ष० के० ॥ ११. कोडीओ । कापा० ॥ १२. कह कापा० । किं सक्का क्ष० कापा० के० ॥ १३. °ससियं च० कापा० ॥ १४. थेवे कापा० ॥ १५. °यसेसे वि ॥ कापा० ॥ १६. अभिइएसु का० । अभिहएसु कापा० ॥ १७. सुक्खं जे० क्ष० के० ॥ १८. जए तया कओ कापा० ॥

(१४१) धन्य-पुरुषों के कषाय दूसरों के कषायों से उद्दीप्त होकर उसी प्रकार नहीं उठते हैं जैसे कि अच्छी तरह से बैठा हुआ पंगु (उठने की इच्छा नहीं करता) ।

(१४२) श्रामण्य का अनुसरण करते हुए (भी) जिस (श्रमण) के कषाय तीव्र होते हैं, उसके श्रमणत्व को इक्षु पुष्प (गन्ने के पुष्प) की तरह निष्फल जानना चाहिए ।

(१४३) जिस (मनुष्य) ने एक करोड़-पूर्व से कुछ कम वर्षों तक चारित्र का पालन किया हो, उस मनुष्य के (चारित्र) को भी ये कषाय क्षणभर में नष्ट कर देते हैं।[1]

(१४४) प्रमाद आदि दोष के कारण अनंत काल में जो कर्म संचित किये गये हैं, उन्हें राग-द्वेष से रहित (व्यक्ति) कोटि-पूर्व (वर्ष) में क्षय कर देता है ।

(१४५) बहुत से कषाय उपशान्त हो जाने पर भी यदि (व्यक्ति) पुनः पतित हो सकता है, तो फिर थोड़े से भी कषाय शेष होने पर किसी का विश्वास कैसे किया जाये ?

(१४६) कषायों के क्षीण होने पर क्षेम होता है, जीत लेने पर विजेता होता है, अभिहत होने पर निर्भय होता है, नष्ट होने पर अविनष्ट होता है और जय होने पर सुख होता है ।

---

१. व्याकरण की दृष्टि से यहाँ एक वचन है किन्तु भाव बहुवचन का है इसलिए अनुवाद बहुवचन में किया गया है ।

धन्ना निच्चमरागा जिणवयणरया नियत्तियकसाया[1] ।
निस्संगनिम्ममत्ता विहरंति [2]जहिच्छिया साहू ॥ १४७ ॥[3]

धन्ना अविरहियगुणा विहरंती [4]मोक्खमग्गमल्लीणा ।
इह य परत्थ य लोए जीविय-मरणे अपडिवद्धा ॥ १४८ ॥

मिच्छत्तं वमिऊणं सम्मत्तम्मि धणियं अहीगारो ।
कायव्वो वुद्धिमया मरणसमुग्घायकालम्मि ॥ १४९ ॥

[5]हंदि ! धणियं पि धीरा[6] पच्छा मरणे उवट्ठिए संते ।
मरणसमुग्घाएणं अवसा [7]निज्जंति मिच्छत्तं ॥ १५० ॥

तो पुव्वं[8] तु मइमया आलोयण निंदणा गुरुसगासे ।
कायव्वा [9]अणुपुव्वि पव्वज्जाईओ[10] जं सरइ ॥ १५१ ॥

ताहे जं देज्ज[11] गुरू पायच्छित्तं जहारिहं जस्स ।
'इच्छामि' त्ति 'भणिज्जा[12] 'अहमवि नित्थारिओ तुब्भे' ॥ १५२ ॥

परमत्थओ[13] मुणीणं अवराहो नेव होइ[14] कायव्वो ।
छलियस्स पमाएणं पच्छित्तमवस्स कायव्वं ॥ १५३ ॥

---

१. निवत्ति° कापा० ॥ २. जहिट्ठिया तथा जहट्ठिया कापा० ॥ ३. इतोऽनन्तरं च० आदर्शे इयमधिका गाथाऽस्ति—

"पयणुकसाओ निच्चं मणनियमो जस्स होए खंतीए ।
ताणं चरित्तसोही एसा होही जिणक्खाया ॥ १ ॥"

४. मुक्ख° च० क्ष० के० ॥ ५. हंत ! वलियम्मि धी° क्ष० के० । हंदि ! वलियं पि सं० क्ष० विना । हंदि ! वलियम्मि धी° कापा० ॥ ६. °रा मरणे पच्छा उ° क्ष० कापा० के० ॥ ७ णिज्जंतु कापा० ॥ ८. पुव्वं बुद्धिमया आलोइय निंदिउं गु° क्ष० कापा० के० ॥ ९. अणुपुव्वी च० । अणुसुद्धी प° क्ष० कापा० ॥ अणसुद्धी के० ॥ १०. ज्जाई य जं क्ष० । °ज्जाइ य के० ११. दिज्ज जे० क्ष० के० ॥ १२. भणेज्जा का० । भणित्ता सं० कापा० के० ॥ १३. °मत्थाओ कापा० । °मत्था उ मु° सं० क्ष० के० ॥ १४. होइ कइया वि । कापा० ॥

(१४७) सदैव राग रहित, जिन वचनों में रत (तथा) निवृत्त कषाय वाले (वे) साधु धन्य हैं, (जो) आसक्ति और ममता रहित (होकर) इच्छानुसार विहार[1] करते हैं।

(१४८) मोक्ष मार्ग में लीन (वे मुनि) धन्य हैं, (जो) निरन्तर (सद्) गुणों में रमण करते हैं और इस लोक एवं परलोक में (तथा) जीवन एवं मृत्यु के सम्बन्ध में अप्रतिबद्ध हैं।

(१४९) मृत्युकाल समुपस्थित होने पर बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति मिथ्यात्व को वमन करके (अर्थात् परित्याग करके) सम्यक्त्व को प्राप्त करे।

(१५०) अहो! (वे) धीर पुरुष धन्य हैं, (जो) (जीवन की सन्ध्या वेला में) मृत्यु के अवसर पर (समाधिमरण हेतु) उपस्थित होते हैं और (वासनाओं के) अधीन न होकर मरण-समुद्घात के द्वारा मिथ्यात्व की निर्जरा कर देते हैं।

(१५१) बुद्धिमान् (पुरुष) को गुरु के समीप सर्वप्रथम (पूर्वकृत पापों की) आलोचना और निन्दा करनी चाहिए, फिर यथानुक्रम से प्रव्रज्या आदि का अनुसरण करना चाहिए।

(१५२) जिसका जैसा अपराध है उसके अनुसार गुरु जो प्रायश्चित दे, उसे 'इच्छामि'[2] कहकर स्वीकार करे और कहे कि 'आपने मुझे निस्तारित किया'।

(१५३) परमार्थ के साधक मुनियों के लिए (अप्रमत्त दशा में हुई) स्खलना का प्रायश्चित् करना आवश्यक नहीं है, किन्तु प्रमाद द्वारा (किये गये) छल का प्रायश्चित तो अवश्य ही करना चाहिए।

---

१. एक स्थान पर रहने से राग बढ़ता है इसलिए साधुजन नित्य विहार करते हैं। वर्षा योग के अतिरिक्त अधिक समय एक स्थान पर नहीं ठहरते। संघ में ही विहार करते हैं, क्योंकि इस काल में अकेले विहार करने का निषेध है। साधु तो इच्छानुसार विहार करते हैं किन्तु भगवान् के लिए कहा गया है कि उनका विहार इच्छारहित होता है।

२. गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित को स्वीकार करते समय उन्हें 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ से वंदन किया जाता है। यहाँ 'इच्छामि' उसी का वाचक है।

पच्छित्तेण विसोही पमायबहुलस्स होइ जीवस्स ।
तेण तयंकुसभूयं चरियव्वं चरणरक्खट्ठा ॥ १५४ ॥
न वि सुज्झंति ससल्ला जह भणियं सव्वभावदंसीहिं ।
मरण-पुणब्भवरहिया आलोयण-निंदणा साहू ॥ १५५ ॥
एक्कं[1] ससल्लमरणं मरिऊण महब्भयम्मि संसारे ।
पुणरवि भमंति जीवा जम्मण-मरणाइं बहुयाइं ॥ १५६ ॥
पंचसमिओ तिगुत्तो सुचिरं कालं मुणी विहरिऊणं ।
मरणे विराहयंतो धम्ममणाराहओ[2] भणिओ ॥ १५७ ॥
बहुमोहो विहरित्ता पच्छिमकालम्मि संवुडो सो उ ।
आराहणोवउत्तो [3]जिणेहिं आराहओ भणिओ ॥ १५८ ॥
तो सव्वभावसुद्धो [4]आराहणमइमुहो[5] विसंभंतो ।
संथारं पडिवन्नो इमं[6] च हियएण चिंतेज्जा ॥ १५९ ॥
एगो[7] मे सासओ अप्पा नाण-दंसणसंजुओ ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ १६० ॥
[8]एक्को हं नत्थि मे [9]कोई, नत्थि वा कस्सई अहं ।
न तं पेक्खामि[10] जस्साहं, न[11] तं पेक्खामि जो महं ॥ १६१ ॥[12] य

---

१. इक्कं क्ष० के० ।। २. ०ओ होइ ॥ कापा० ॥ ३. जिणेहि का० ॥ ४. आलोइ निंदिउं गुरुसगासे । संथा० च० ॥ ५. ०मभिमुहो क्ष० कापा० के० ॥ ६. इणमो हिय० का० । इणमं हियए विचिं० क्ष० कापा० के० । इणमो हियए विचिं० च० कापा० ॥ ७. इक्को क्ष० च० कापा० के० । एक्को० का० एगो कापा० ॥ ८ इक्को क्ष० च० के० ॥ ९. कोई, नाहमन्नस्स कस्सई । न तं इति महापरिज्ञाप्रकीर्णकपाठनिर्देशः का० आदर्शे । कोइ के० ॥ १०. पिक्खा० च० क्ष० के० ॥ ११. न सो भावो य जो क्ष० कापा० के० । न सो भावो उ जो च० का० ॥ १२. इतोऽनन्तरं च० आदर्शे इमे द्वे गाथे अधिके स्तः—

"संजोगमूला जीवेण पत्ता दुक्खपरम्परा ।
तम्हा महल्लयं पिज्जं छिंद संसारवद्धणं ॥ १ ॥
एगो जीवो चयइ, एगो उ [?व] वज्जए सकम्मेहिं ।
एगस्स होइ मरणं, एगो सिज्झइ नीरओ ॥ २ ॥"

(१५४) प्रमाद-बहुल जीव की विशुद्धि प्रायश्चित के द्वारा होती है, वह प्रायश्चित उसके चारित्र के रक्षण के लिए अंकुश रूप होता है।

(१५५) शल्य सहित (व्यक्ति) शुद्ध नहीं होते, ऐसा सर्वज्ञ-देव ने कहा है। (इसलिए) मरण ओर पुनर्जन्म से रहित होने के लिए आलोचना और आत्मनिंदा श्रेयस्कर है।

(१५६) एक सशल्यमरण मरकरके जीव महाभयंकर संसार में अनेक जन्म-मरण करते हुए पुनः पुनः भ्रमण करते हैं।

(१५७) दीर्घकाल तक पाँच समिति और त्रिगुप्ति का पालन करने वाला मुनि (भी) (यदि) मृत्यु के अवसर पर विराधना करता है, (तो उसे) धर्म का अनाराधक ही कहा जाता है।

(१५८) अत्यधिक मोहयुक्त जीवन जीने वाला (व्यक्ति) यदि जीवन की सन्ध्या वेला में भी संयमी हो जाता है, (तो) आराधना करने-वाला वह अप्रमत्त साधक जिन-देव के द्वारा आराधक कहा गया है।

(१५९-१६०) गुरु के समीप (अपनी) आलोचना और निन्दा करके सर्वभाव से शुद्ध होकर मृत्यु-शय्या पर आसीन (शिष्य) हृदय से यह विचार करे कि ज्ञान-दर्शन से युक्त मात्र यह शाश्वत आत्मा ही मेरी है (तथा) संयोग लक्षण से युक्त शेष समस्त पदार्थ मेरे लिए बाह्य (पर) हैं।

(१६१) मैं अनन्य (अकेला) हूँ, मेरा कोई भी नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूँ। मैं न तो उसको देखता हूँ जिसका 'मैं' हूँ और न (मैं) उसको देखता हूँ जो 'मेरा' है (अर्थात् मेरी दृष्टि में आत्म-तत्त्व को छोड़कर संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो मेरी हो अथवा जिसका मैं हूँ)।

देवत्त माणुसत्तं तिरिक्खजोणिं[१] तहेव नरयं च ।
पत्तो अणंतखुत्तो [२]पुव्विं अन्नाणदोसेणं ॥१६२॥

न [३]य संतोसं पत्तो [४]सएहिं कम्मेहिं दुक्खमूलेहिं ।
न य[३] लद्धा परिसुद्धा[५] वुद्धी सम्मत्तसंजुत्ता ॥१६३॥

सुचिरं पि ते [६]मणूसा [७]भमंति संसारसायरे दुग्गे ।
जे हु[८] [९]करेंति पमायं दुक्खविमोक्खम्मि[१०] धम्मम्मि ॥१६४॥

दुक्खाण ते मणूसा पारं गच्छंति जे [११]दढधिईया ।
पुव्वपुरिसाणुचिण्णं जिणवयणपहं न मुंचंति ॥१६५॥

मग्गंति [१२]परमसोक्खं ते पुरिसा जे खवंति [१३]उज्जुत्ता ।
कोहं माणं मायं लोभं तह राग-दोसं च ॥१६६॥

न वि माया[१४], न वि य पिया, न बंधवा, न वि [१५]पियाइं मित्ताइं ।
पुरिसस्स मरणकाले न होंति[१६] आलंबणं किंचि ॥१६७॥

[१७]न हिरण्ण-सुवण्णं[१८] वा दासी-दासं च[१९] जाण-जुग्गं च[२०] ।
पुरिसस्स मरणकाले न [२१]होंति आलंबणं [२२]किंचि ॥१६८॥

---

१. °क्खजोणीं क्ष० के० । °क्खजोणी सं० कापा० ॥ २. पुव्वं क्ष० के० ॥ ३. इ सं० ॥ ४. सएहि कम्मेहि का० ॥ ५. °सुद्धी स० ॥ ६. मणुस्सा च० क्ष० के० ॥ ७. भवंति कापा० ॥ ८. य क्ष० के० ॥ ९. करंति च० क्ष० कापा० के० । करिंति सं० ॥ १०. °म्मि मग्गम्मि का०। °विमुक्खंमि के० । °म्मि धम्मम्मि कापा० ॥ ११. दढद्धिइया कापा० ॥ १२. °ममुक्खं क्ष० के० ॥ १३. उज्जत्ता कापा० ॥ १४. °या नेव पिया च० ॥ १५. पियाइ का० ॥ १६. हुंति च० क्ष० जे० कापा० के० । होइ का० । होंति कापा० ॥ १७. न नत्थि के० ॥ १८. हिरण्णं न सुवण्णं दासी° च० ॥ १९. व कापा० ॥ २०. वा क्ष० का०के० ॥ २१. हुंति च० क्ष० के० । होइ का० ॥ २२. किंपि च० ॥

(१६२) पूर्वक्त अज्ञानरूपी दोष के कारण (यह जीव) अनन्त वार देवत्व, मनुष्यत्व, तिर्यंच-योनि और उसी प्रकार नरक-योनि को प्राप्त हुआ है।

(१६३) अपने दुःखमूलक कर्मों के द्वारा न तो (मैं) सन्तोष को प्राप्त कर सका और न (मैं) सम्यक्त्व युक्त परिशुद्ध वुद्धि को (ही) प्राप्त कर सका।

(१६४) जो मनुष्य दुःखों से मुक्ति दिलाने वाले धर्म में प्रमाद करते हैं निश्चय ही वे (मनुष्य) दीर्घकाल तक दुर्गम संसार सागर में भ्रमण करते हैं।

(१६५) जो मनुष्य दृढ़ धैर्यवाले होते हैं, वे दुःखों के पार चले जाते हैं (अर्थात् दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर लेते हैं) (ऐसे मनुष्य) पूर्वजों द्वारा आचरित जिनवचन रूपी मार्ग को (कभी) नहीं छोड़ते।

(१६६) जो सरल हृदयी व्यक्ति क्रोध, मान, माया, लोभ तथा राग-द्वेष को नष्ट कर देते हैं, वे परमसुख की गवेषणा करते हैं।

(१६७) मृत्यु समय में माता-पिता, वन्धु-वान्धव, पत्नी और मित्र आदि कोई भी पुरुष के सहायक नही होते हैं।

(१६८) मृत्यु समय में चाँदी-सोना, दासी-दास और रथ-पालकी आदि कुछ भी पुरुष के सहायक नहीं होते हैं।

आसवलं हत्थिवलं जोहवलं [1]धणुवलं रहवलं च ।
पुरिसस्स मरणकाले न [2]होंति आलंवणं किंचि ॥१६९॥[3]

---

१. धणव° कापा० । २. हुंति च० ज० । होइ का० ॥ ३. इतोऽनन्तरं च० आदर्शे पञ्चसप्ततिर्गाथा अधिका विद्यन्ते, तास्त्वेमाः—

खेडाणि कव्वडाणि य दोणमुहाइं च पट्टणाइं च ।
एयाइं मरणकाले छड्डिय अन्नत्थ गंतव्वं ॥ १ ॥

जं पि य इमं सरीरं दइयं सुस्सूसियं पयत्तेणं ।
एयं पि मरणकाले छड्डिय अन्नत्थ गंतव्वं ॥ २ ॥

अह किं मे होइ हियं ?—तवो सुचिण्णो सुयं च साहू य ।
दव्वग्गहणनियत्ती अविहिंसा सच्चवयणं च ॥ ३ ॥

सव्वो वि य संसारो अणंतखुत्तो इमेण जीवेणं ।
आहिंडिओ उ वहुसो पुव्वि कम्माणुभावेणं ॥ ४ ॥

सुचिरं खु ते मणुस्सा भमंति संसारसागरे घोरे ।
जे न करेंति पयत्तं दुक्खविमोक्खम्मि मग्गम्मि ॥ ५ ॥

ते दुक्खाण मणुस्सा पारं गच्छंति जे दढधिईया ।
वीरपुरिसाणुचिण्णं समयं निच्चं अमुंचंता ॥ ६ ॥

मग्गंति परमसोक्खं ते पुरिसा जे खवेंति उज्जुत्ता ।
कोहं माणं मायं लोभं पिज्जं च दोसं च ॥ ७ ॥

आया मज्झं नाणे, आया मे दंसणे चरित्ते य ।
आया पच्चक्खाणे, आया मे संवरे जोगे ॥ ८ ॥

मूलगुण-उत्तरगुणे जे मेऽणाराहिया पमाएणं ।
ते सव्वे निंदामि पडिक्कमे आगमे सव्वं ॥ ९ ॥

मिच्छत्तं गरिहामी सव्वं असमंजसं अकिरियं च ।
सव्वं पायच्छित्तं तव-संजम-जोगमादीणं ॥ १० ॥

सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामी य अलियवयणं च ।
सव्वं अदत्तादाणं अव्वंभ परिग्गहं चेव ॥ ११ ॥

समणो मि त्ति य पढमं, बीयं सव्वत्थ संजओ मि त्ति ।
सव्वं च वोसिरामी जिणेहिं जं जं च पडिकुट्ठं ॥ १२ ॥

पंच य महव्वयाइं तिविहं तिविहेण आरुहेऊणं ।
तिविहेण य तिक्कालं पडिक्कमे आगमे सव्वं ॥ १३ ॥

(१६९) मृत्यु समय में अश्वबल, हस्तिबल, योद्धाबल, धनुषबल और रथ-बल आदि कुछ भी पुरुष के सहायक नहीं होते।

सव्वं आहारविहिं चउव्विहं आसवं सरीरं च ।
सव्वं लोयममत्तं चयामि सव्वेहि भावेहिं ॥ १४ ॥

भवसंसारसमुद्दे चउव्विहा.................. ।
तह पोग्गला य छुड्डा (?) अट्ठविहे कम्मसंघाए ॥ १५ ॥
संसारचक्कवाले मए उ सव्वे वि पोग्गला बहुसो ।
आहारिया य परिणामिया य न य हं गओ तित्ति ॥ १६ ॥
आहारनिमित्ता णं अहयं सव्वेसु नरयलोएसु ।
उववन्नो य [?सु] बहुसो सव्वासु य मिच्छजाईसु ॥ १७ ॥
आहारनिमित्ता णं जीवा गच्छंतऽणुत्तारं नरयं ।
सच्चित्तो आहारे ण खमो मणसा वि पत्थेउं ॥ १८ ॥
जलदोणमुहसमाणो दुप्पुरओ दगरओ निरभिरामो ।
न इमो जीवो सक्को तिप्पेउं काम-भोगेसुं ॥ १९ ॥
तण-कट्ठेण व अग्गी, लवणजलो वा नईसहस्सेहिं ।
न इमो जीवो सक्को पिप्पेउं भोयणविहीहिं ॥ २० ॥
अविगयतण्हो जीवो अईयकालम्मि गीयपमुहाणं ।
सद्दाणं रूवाणं गंधाण रसाण फासाणं ॥ २१ ॥
खइएण व पीएण व न य एसो ताइओ भवे अप्पा ।
जइ दोग्गइं न वच्चइ तो मरणे ताइओ होइ ॥ २२ ॥
उड्ढमहे तिरिए वा लोए परमाणुपोग्गलसमो वि ।
नत्थि किर सो पएसो जत्थ न जाओ मओ वा वि ॥ २३ ॥
उव्वेयणयं जम्मं च मरणयं निरयवेयणाओ य ।
एयाइं संभरंतो पंडियमरणं मरीहामि ॥ २४ ॥
उड्ढमहे तिरिए वि य मयाइं बहुयाइं बालमरणाइं ।
तो ताइं संभरंतो पंडियमरणं मरीहामि ॥ २५ ॥
अस्संजमं अकिरियं मिच्छत्तं सव्वओ ममत्तं च ।
जीवेसु अजीवेसु य सव्वं तिविहेण वोसिरे ॥ २६ ॥

एगो हं नत्थि मे कोई नेवाहमवि कस्सई ।
एवं अदीणमणसो अप्पाणमणुसासई ॥ २७ ॥
सव्वं परिणाया (याणा) मि सव्वं तिविहेण वोसिरे सम्मं ।
गुत्तीओ समिईओ मज्झं ताणं च सरणं च ॥ २८ ॥
जा काइ पत्थणाओ कया मए राग-दोसवसएणं ।
पडिबंधेणं बहुसो तं निंदे तं च गरिहामि ॥ २९ ॥

उवही सरीरयं चिय आहारं च चउव्विहं।
चरमम्मि य उस्सासे सव्वं तिविहेण वोसिरे ॥ ३० ॥
एवं संखित्तम्मि उ पच्चक्खाइंत होज्ज जइ कालो।
तो पच्चक्खाइव्वं इमेण एगेण वि पएणं ॥ ३१ ॥
सिद्धे उवसंपज्जे अरिहंते केवली य तिविहेणं।
एत्तो एगतरेण वि पएण आराहओ होइ ॥ ३२ ॥
हंतूण राग-दोसे उल्लूणिय अट्ठकम्मसंकलियं।
जम्मण-मरणऽरहट्टं छित्तूण भवाओ मुच्चिहिसि ॥ ३३ ॥
पुव्विं कयपरिणामो अणियाणो ओहिऊण मइवुद्धी।
ताहे मलियकसाओ सज्जो मरणं पडिच्छेज्जा ॥ ३४ ॥
जिणवयणमणुगया मे होउ मई झाणजोगमल्लीणा।
इय तम्मि देस-काले अमूढसन्नो चए देहं ॥ ३५ ॥
जिणवयणमणुगयमई जं वेलं होइ संवरपइट्ठो।
अग्गी व वायसहिओ समूलजालं डहइ कम्मं ॥ ३६ ॥
जह डहइ वायसहिओ अग्गी हरिए वि रुक्खवणसंडे।
तह पुरिसकारसहिओ नाणी कम्मं खयं नेइ ॥ ३७ ॥
जं अन्नाणी कम्मं खवेइ वहुयाहि वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहि गुत्तो खवेइ ऊसासमेत्तेणं ॥ ३८ ॥
कइया णु धुवं मरणं पंडियमरणं जिणेहि पन्नत्तं।
सुद्धो उद्धियसल्लो संथारगओ मरीहामि ॥ ३९ ॥
उव्विल्लेऊण बला वावीसपरीसहे कसाए य।
हंतूण राग-दोसे हरामि आराहणपडागं ॥ ४० ॥
आराहणोवउत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं।
उक्कोसं तिण्णि भवे गंतूण लभेज्ज निव्वाणं ॥ ४१ ॥
भत्ते पच्चक्खाए समणेणं उत्तमट्ठकालम्मि।
किं वा चिंतेयव्वं किं वा वि जिणेहि पन्नत्तं ॥ ४२ ॥
चिंतिज्ज अणिच्चत्तं अण्णत्तं असरणं च एगत्तं।
संसारसहावं संवरं च तह निज्जरं चेव ॥ ४३ ॥
जियलोगअणिच्चत्तं जिणवरमयवोहिदुल्लभत्तं च।
एवं चिय नायव्वं नरेण सासणरएणं च ॥ ४४ ॥
एवं जिणोवइट्ठं उवएसं सद्दहामि भावेणं।
तस-थावरभूयहियं पत्थं निव्वाणमग्गस्स ॥ ४५ ॥

तम्हा एत्तो एगं पि सिलोगं तम्मि देस-कालम्मि ।
आराहणोवउत्तो सम्मं आराहओ होइ ॥ ४६ ॥
सच्चेण मता सिज्झंति, सग्गो सच्चेण सिज्झइ ।
सच्चेण खीणकम्माणो जीवा वच्चंति सग्गइं ॥ ४७ ॥
तम्हा सच्चं जिणक्खायं सव्वभूयसुहावहं ।
समणाण सावयाण य सव्वत्थेसु पसंसियं ॥ ४८ ॥
पच्चक्खाणम्मि कए आसवदाराइ हौंति पिहियाइं ।
आसववोच्छेयम्मि उ तण्हावोच्छेयणं होइ ॥ ४९ ॥
तण्हावुच्छेयम्मि उ जीवस्स उ पावपसमणं होइ ।
पावस्स पसमणेण उ [? सु] विसुद्धावासयं होइ ॥ ५० ॥
आवासयसोहीए दंसणसोहिं तु पावए जीवो ।
दंसणसोहीए पुण चरित्तसोहिं धुवं लहइ ॥ ५१ ॥
लहइ चरित्तविसुद्धो झाणज्झयणं तु सोहणं जीवो ।
झाणज्झयणविसुद्धो वच्चइ सिद्धिं धुयकिलेसो ॥ ५२ ॥
एसो उवएसो खलु समासओ जिणवरेहि उवइट्ठो ।
चिंतेयव्वो नरेणं अभिक्खतव-संजमरएणं ॥ ५३ ॥
एत्तो एगमणा भे धम्ममणा अविमणा अणण्णमणा ।
संसारम्मि निबद्धं गुणपरिवाडिं निसामेह ॥ ५४ ॥
आराहणा उ एसा एसो हु गुणोत्तमो सुविहियाणं ।
एसो हु उत्तमट्ठो पडागहरणं जिणक्खायं ॥ ५५ ॥
कह वि य अक्खरलंभो आराहइ सत्थियाण वणगहणं ।
मल्लाणं च पडागा तह संथारो सुविहियाणं ॥ ५६ ॥
मेरु व्व पव्वयाणं, सयंभुरमणो व्व जह समुद्दाणं ।
चंदो व्व तारयाणं तह संथारो सुविहियाणं ॥ ५७ ॥
पुव्वि सोहेऊणं अप्पाणं जो हवेइ संथारो ।
आराहइ संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ५८ ॥
जो पुण दंसणमइलो सिढिलचरित्तो करेइ सामण्णं ।
आरुहइ य संथारं अविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ५९ ॥
जो पुण बलेण मत्तो आलोएऊण निच्छइ गुरूणं ।
आरुहई संथारं अविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ६० ॥
निच्चं पि तस्स भावुज्जुयस्स जयवंजहि (?) व्व संथारो ।
जो होइ अहक्खाओ विहारभूमुट्ठिओ साहू ॥ ६१ ॥

पाणेसु य वयणेसु य हरिउत्तंगेसु वा सरंतस्स ।
होइ मओ संथारो पडिवज्जइ जो असंभंतो ॥ ६२ ॥

विणयकरणा य ण मओ विणएण य तस्स फासुया भूमी ।
अप्पा खलु संथारो होइ विसुद्धो मरंतस्स ॥ ६३ ॥

आसी य पोयणपुरे अज्जा पुप्फावइ त्ति नामेणं ।
तीसे धम्मायरिया नामेणं अन्नियापुत्ता ॥ ६४ ॥

तो गंगमुत्तरंता सहसा ओवट्ठियाए नावाए ।
पडिवन्नमुत्तमट्ठं तेहि वि आराहियं मरणं ॥ ६५ ॥

आसी चिलायपुत्तो मु(? मू) इंगलियाहिं चालणि व्व कओ ।
सो तह वि खज्जमाणो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ ६६ ॥

मंखलिणा वि अरहओ सीसा तेअग्गिणा विणिद्दड्ढा ।
ते तह वि डज्झमाणा पडिवन्ना उत्तमं अट्ठं ॥ ६७ ॥

जुत्तस्स उत्तमट्ठे मलियकसायस्स वीयरायस्स ।
··· के सरिओ लाभो संथारगयस्सिमो होइ ॥ ६८ ॥

पोराणगं च कम्मं खवेइ, अन्नं नवं च नाइणइ ।
कम्मकलंकियवल्लि छिन्नइ अज्झप्पओगेणं ॥ ६९ ॥

जह खुभियचक्कवाले पोए भरिउं समुद्दमज्झम्मि ।
निज्जामया धरंती जियकण्णा वुद्धिसंपन्ना ॥ ७० ॥

तवपोयं गुणभरियं परिस्सहुम्मीहिं धणियमतिगिद्धं ।
आराहिंति इ सीसा गुरुवएसावलंवि(ब)या वो(धी)रा ॥ ७१ ॥

जइता व ते मुणिवरा आराहेंती तया अपडिबद्धा ।
प(? गु)म्मादि-गिरिदरीसुं साहिंती उत्तमं अट्ठं ॥ ७२ ॥

जह सावया गुहासुं गिरिकंदरदुग्गविसमकर(? ड)गेसु ।
साहेंति अप्पणट्ठं धितिवणियसहायगा धीरा ॥ ७३ ॥

धीरपुरिसपन्नत्तं सप्पुरिसनिसेवियं परमरम्मं ।
धन्ना सिलायलगया साहेंती उत्तमं अट्ठं ॥ ७४ ॥

आउरपच्चक्खाणं एयं सोऊण पायडपसत्थं ।
तह वत्तह काउं जे जह मुच्चह सव्वदुक्खाणं ॥ ७५ ॥

एवं आराहेंतो जिणोवइट्ठं समाहिमरणं तु ।
उद्धरियभावसल्लो मुज्झइ जीवो धुयकिलेसो ॥१७०॥

जाणंतेण वि [1]जइणा वयाइयारस्स [2]सोहणोवायं ।
परसक्खिया विसोहो कायव्वा भावसल्लस्स ॥१७१॥

जह सुकुसलो वि [3]वेज्जो अन्नस्स कहेइ [4]अप्पणो वाहिं[5]।
सो से[6] करइ तिगिच्छं [7]साहू वि तहा गुरुसगासे ॥१७२॥

[8]इत्थ समप्पइ इणमो पव्वज्जा मरणकालसमयम्मि ।
जो हु[9] न मुज्झइ मरणे साहू आराहओ भणिओ ॥ १७३॥दारं[10] ७॥

[चंदावेज्झयपइन्नओवसंहारो]

विययं[11] १ आयरियगुणे २ सीसगुणे ३ विणयनिग्गहगुणे ४ य ।
नाणगुणे ५ [12]चरणगुणे ६ मरणगुण[13] ७ विहिं च सोऊणं ॥१७४॥

तह [14]घत्तह काउं जे जह मुच्चह[15] गब्भवासवसहीणं ।
मरण-पुणब्भव-जम्मण-[16]दोग्गइविणिवायगमणाणं ॥१७५॥

॥ [17]इति चंदावेज्झयं[18] पइण्णयं समत्तं[19] ॥ ३ ॥

---

१. जयणा कापा० ॥ २. साहणो० कापा० ॥ ३. विज्जो जे० च० क्ष० के० ॥ ४. आप्पणो के० ॥ ५. वाही सं० क्ष० ॥ ६. सो कारेइ तेगिच्छं तथा तो से करइ ति० कापा० ॥ से करेइ क्ष० कापा० के० । से कारइ कापा० । से कुणइ च० ॥ ७. साहूण तहा च० ॥ ८. एत्थ का० । एत्थ समुप्पइ मुणिणो पव्व० सं० च० क्ष० कापा० । इत्थं समुप्पइ के० ॥ ९. उ क्ष० कापा० के० ॥ १०. 'दारं ७ ॥' इति सं० क्ष० का० आदर्शेषु नास्ति ॥ ११. विणए सं० जे० च० पु० ॥ १२. करणगुणे सं० च० कापा० ॥ १३. ०गुणे च० ॥ १४. घित्तह कापा० । वत्तह च० क्ष० कापा० के० ॥ १५. मुंचह सं० क्ष० ॥ १६. दुग्गइ० क्ष० का० के० । ०दुग्गयवि० कापा० ॥ १७. 'इति' इति पदं सं० पु० का० आदर्शेषु नास्ति । इति चंदाविज्झयं समत्तं ॥ तथा चंदगविज्झं नाम पइण्णयं समाप्तमिति ॥ कापा० ॥ १८. चंदगविज्झयं स० जे० च० । चंदावेज्झयं स० सं० । चंदगविज्झं नाम पइ० क्ष० । चंदाविज्झयं पयन्नयं समत्तं समाप्तं ॥ तथा चंदाविज्झयप्रकीर्णकम् । कापा० ॥ १९. सम्मत्तं सं० ॥

(१७०) इस प्रकार जिनेन्द्रों द्वारा उपदिष्ट समाधिमरण की आराधना करता हुआ जीव भावशल्य समाप्तकर धूतक्लेश (निष्पाप) हो, शुद्ध हो जाता है।

(१७१) व्रतों के अतिचार के शोधन उपाय को जानकर यतियों को दूसरों की साक्षी से भावशल्य की विशुद्धि करनी चाहिए।

(१७२) जिस प्रकार सकुशल वैद्य भी अपनी बिमारी को किसी अन्य (वैद्य) को बताता है और तब वह वैद्य उसकी चिकित्सा करता है उसी प्रकार साधु भी गुरु के सान्निध्य में (अपने दोषों को प्रकट कर उनका परिमार्जन करे)।

(१७३) जो साधु मृत्यु के अवसर पर इस प्रव्रज्या अर्थात् साधना के प्रति समर्पित होता है तथा जो मरण काल में मोहित नहीं होता है, वह आराधक कहा जाता है।

[चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक उपसंहार]

(१७४-१७५) इस प्रकार विनय (गुण) आचार्य गुण, शिष्य गुण, विनय-निग्रह गुण, ज्ञान गुण, चारित्र गुण और मरण गुण की विधि को सुनकर (उसका) उसी प्रकार पालन करें, जिससे गर्भवास में निवास करने वाले जीवों के जन्म-मरण, पुनर्भव, दुर्गति और संसार में गमनागमन समाप्त हो सके।

१. परिशिष्ट

चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक की गाथानुक्रमणिका

●

२. परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ सूची

१. अष्ट पाहुड़ : (कुन्दकुन्द)—भाषा परिवर्तनः महेन्द्र कुमार जैन (श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सौनगढ़)।

२. उत्तराध्ययन सूत्र :—सम्पा० मधुकर मुनि (श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)।

३. जैन लक्षणावली :—सम्पा० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री (वीर सेवा मंदिर प्रकाशन, दिल्ली) (भाग १-३)।

४. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश :—जिनेन्द्र वर्णी (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली) (भाग १-४)।

५. नन्दीसूत्र :—सम्पा० मधुकर मुनि (श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)।

६. नन्दीसूत्र चुर्णिः (देववाचक)—सम्पा० मुनि पुण्य विजय (प्राकृत टेक्सट् सोसायटी, वाराणसी)।

७. नन्दीसूत्र वृत्तिः (देववाचक)—सम्पा० मुनि पुण्यविजय (प्राकृत टेक्सट् सोसायटी, वाराणसी)।

८. नियमसारः (कुन्दकुन्द)—हिन्दी अनु० परमेष्ठीदास (साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर)।

९. निर्युक्ति संग्रहः (भद्रबाहु)—सम्पा० विजय जिनेसूरीश्वर (श्री हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, शांतिपुरी, सौराष्ट्र)।

१०. पइण्णयसुत्ताइं :—सम्पा० मुनि पुण्य विजय (श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई) (भाग १-२)।

११. पाक्षिक सूत्र :—(देवचन्द्र लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार)।

१२. भगवती आराधनाः (शिवार्य)—सम्पा० कैलाशचन्द्र शास्त्री (जैन संस्कृति रक्षक संघ, शोलापुर) (भाग १-२)।

१३. मूलाचार : (वट्टकेर)—सम्पा० कैलाश चन्द्र शास्त्री (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली) (भाग १-२)।

१४. विशेषावश्यक भाष्य : (जिनभद्र)—सम्पा० पं० दलसुख मालवणिया (ला० द० भा० स० विद्यामंदिर, अहमदाबाद)।

१५. समयसार : (कुन्दकुन्द)—सम्पा० डॉ० पन्नालाल (श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला प्रकाशन, वाराणसी)।

१६. समवायांग सूत्र :—सम्पा० मधुकर मुनि (श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)।

१७. ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र : सम्पा० मधुकर मुनि (श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)।

संस्थान-परिचय

आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान आचार्य श्री नानालाल जी म० सा० के १९८१ के उदयपुर वर्षावास की स्मृति में जनवरी १९८३ में स्थापित किया गया। संस्थान का मुख्य उद्देश्य जैनविद्या एवं प्राकृत के विद्वान् तैयार करना, अप्रकाशित जैन साहित्य का प्रकाशन करना, जैनविद्या में रुचि रखने वाले विद्यार्थियों को अध्ययन की सुविधा प्रदान करना, जैन संस्कृति की सुरक्षा के लिए जैन आचार, दर्शन और इतिहास पर वैज्ञानिक दृष्टि से ग्रन्थ तैयार कर प्रकाशित करवाना एवं जैन विद्या-प्रसार की दृष्टि से संगोष्ठियाँ, भाषण, समारोह आदि आयोजित करना है। यह श्री अ० भा० सा० जैन संघ की एक मुख्य प्रवृत्ति है।

संस्थान राजस्थान सोसायटीज एक्ट १९५८ के अन्तर्गत रजिस्टर्ड है एवं संस्थान को अनुदान रूप में दी गयी धनराशि पर आयकर अधिनियम की धारा ८० (G) और १२ (A) के अन्तर्गत छूट प्राप्त है।

जैन धर्म और संस्कृति के इस पुनीत कार्य में आप इस प्रकार सहभागी बन सकते हैं—

(१) व्यक्ति या संस्था एक लाख रुपया या इससे अधिक देकर परम संरक्षक सदस्य बन सकते हैं। ऐसे सदस्यों का नाम अनुदान तिथि-क्रम से संस्थान के लेटरपेड पर दर्शाया जाता है।

(२) ५१,००० रुपया देकर संरक्षक सदस्य बन सकते हैं।

(३) २५,००० रुपया देकर हितैषी सदस्य बन सकते हैं।

(४) ११,००० रुपया देकर सहायक सदस्य बन सकते हैं।

(५) १,००० रुपया देकर साधारण सदस्य बन सकते हैं।

(६) संघ, ट्रस्ट, बोर्ड, सोसायटी आदि जो संस्था एक साथ २०,००० रुपये का अनुदान प्रदान करती है, वह संस्था संस्थान-परिषद् की सदस्य होगी।

(७) अपने बुजुर्गों की स्मृति में भवन निर्माण हेतु व अन्य आवश्यक यंत्रादि हेतु अनुदान देकर आप इसकी सहायता कर सकते हैं।

(८) अपने घर पर पड़ी प्राचीन पांडुलिपियाँ, आगम-साहित्य व अन्य उपयोगी साहित्य प्रदान कर सकते हैं।

आपका यह सहयोग ज्ञान-साधना के रथ को प्रगति के पथ पर अग्रसर करेगा।